काश्मीर शैवदर्शन एवं 'स्वातन्त्र्य दर्पण' – समीक्षात्मक विवेचन

Kashmir Shaiva Philosophy and "Svātantrya Darpaṇa" critical evaluation

स्नातकोत्तर संस्कृत विभाग, कश्मीर विश्वविद्यालय
की एम० फिल्० उपाधि हेतु प्रस्तुत
शोध–निबन्ध

निर्देशिका :

डॉ० सत्यभामा राजदान
प्रोफेसर एवं विभाग अध्यक्षा,
स्नातकोत्तर संस्कृत विभाग,
कश्मीर विश्वविद्यालय, श्रीनगर।

सह निर्देशक:

डॉ० जागीर सिंह
प्रोफेसर
स्नातकोत्तर संस्कृत विभाग,
जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू।

शोध छात्र

लक्ष्मी नारायण
एम० ए० संस्कृत,
बी० एड०

स्नातकोत्तर संस्कृत विभाग
कश्मीर विश्वविद्यालय, श्रीनगर

काश्मीर शैवदर्शन एवं 'स्वातन्त्र्य दर्पण' – समीक्षात्मक विवेचन

Kashmir Shaiva Philosophy and "Svātantrya Darpaṇa" critical evaluation

स्नातकोत्तर संस्कृत विभाग, कश्मीर विश्वविद्यालय

की एम० फिल्० उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध–निबन्ध

निर्देशिका :

डॉ० सत्यभामा राज़दान
प्रोफेसर एवं विभाग अध्यक्षा,
स्नातकोत्तर संस्कृत विभाग,
कश्मीर विश्वविद्यालय, श्रीनगर।

सह निर्देशकः

डॉ० जागीर सिंह
प्रोफेसर
स्नातकोत्तर संस्कृत विभाग,
जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू।

शोध छात्र

लक्ष्मी नारायण
एम० ए० संस्कृत,
बी० एड०

स्नातकोत्तर संस्कृत विभाग
कश्मीर विश्वविद्यालय, श्रीनगर

CERTIFICATE

Certified that **Laxmi Narayan** has worked under my supervision and guidance on the topic **"Kashmir Shaiva Philosophy and "Svātantrya Darpaṇa" : critical evaluation** for award of the Degree of Master of Philosophy in Sanskrit.

It is further certified that –

(a) This dissertation is the original research work of the candidate himself.

(b) The candidate has worked for the time period exactly in accordance prescribed by statue of Kashmir University.

(c) The topic has been duly approved by the BORS in Arts, University of Kashmir, Srinagar.

(d) The candidate has put in the required attendance and has attended seminars etc. in the Sanskrit Department as under statues.

(e) The work and conduct of the candidate remained satisfactory during the research period.

Supervisor : 28/8/12

Prof. (Dr.) Satyabhama Razdan
H.O.D Sanskrit & Dean Faculty of Oriental Learning
University of Kashmir
Srinagar – 190006.

Co-Supervisor :

Prof. (Dr.) Jagir Singh
Department of Sanskrit
University of Jammu
Jammu – 180006.

विषयानुक्रमणिका

विषयानुक्रमणिका

चतुर्थ अध्याय 87–100

६. स्वातन्त्र्य दर्पण में विश्वप्रपञ्च की अवधारणा

अ. जगत्

क. शुद्धतत्त्व या शुद्ध सृष्टि – शिव तत्त्व, शक्ति तत्त्व

ख. शुद्धाशुद्ध सृष्टि – सदाशिव तत्त्व, ईश्वर तत्त्व, सद्विद्या तत्त्व

ग. अशुद्ध सृष्टि – माया तत्त्व, कला तत्त्व, विद्या तत्त्व, राग तत्त्व, काल तत्त्व, नियति तत्त्व, पुरुष तत्त्व, प्रकृति तत्त्व

घ. करण कार्यत्व – महत् या बुद्धि तत्त्व, अंहकार तत्त्व, मन तत्त्व,

पाँच ज्ञानेन्दियाँ या बुद्धीन्द्रियाँ – श्रोत्र, त्वक् चक्षु, रसना, घ्राण।

पाँच कर्मेन्द्रियाँ– वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ

ङ. पाँच तन्मात्राएँ – शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध

च. पाँच स्थूलभूल – आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी

आ सप्त प्रमाता, प्राण, प्राण पंचक

पञ्चम अध्याय 101–110

७. स्वातन्त्र्य सम्मत बन्ध–मोक्ष

अ. बन्ध

क. बन्ध का स्वरूप

ख. बन्ध का कारण–अज्ञान, अज्ञान के प्रकार– बौद्ध अज्ञान, पौरुष अज्ञान। मलत्रय – आणव मल, मायीय मल, कार्म मल। पञ्च या छट् कञ्चुक

प्राक्कथन

प्राक्कथन

सरस्वती के वरदहस्त श्री रामाधर सिंह शास्त्री एवं स्व० माता श्रीमती कान्ता देवी के चरणरज की शुचि धूलि के स्पर्श से संस्कारित जम्मू कश्मीर की पावन धरा जम्मू में जन्म पाकर मैं अपने आप को अतीव गौर्वान्वित मानता हूँ। विश्व प्रसिद्ध तीर्थस्थली एवं मन्दिरों की नगरी, राजाओं और शूरवीरों की रणस्थली में मेरा बचपन बड़ें अह्लादपूर्वक व्यतीत हुआ। यहाँ के श्री रघुनाथ मन्दिर, श्री रणवीरेश्वर मन्दिर, बाबे वाली माता एवं वैष्णों माता के दर्शनों के लिए माता–पिता के साथ जाने का सुअवसर मिलता रहा। ऐसे धार्मिक वातावरण एवं घर के संस्कृतमय माहौल में संस्कृत भाषा के प्रति बाल्यकाल से ही अनुराग उत्पन्न हो गया। मेरी प्रारम्भिक शिक्षा मॉडल अकादमी, बी० सी० रोड, जम्मू से सम्पन्न हुई। माध्यमिक शिक्षा केन्द्रीय विद्यालय, दोमाना (लाले–दा–बाग) से सम्पन्न हुई। उच्च माध्यमिक शिक्षा राजकीय उच्च माध्यमिक विद्यालय, दोमाना, जम्मू से प्राप्त की। स्नातक स्तर (B.A) एवं शिक्षा शास्त्री (B.Ed) की शिक्षा जम्मू विश्वविद्यालय के दूरस्थ पत्राचार पाठ्यक्रम विभाग (DDE) से उपलब्ध की। इसके पश्चात् स्नातकोत्तर संस्कृत विभाग, जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू से एम० ए० संस्कृत की उपाधि प्राप्त की। तत्पश्चात् एम० ए० हिन्दी की उपाधि इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय से उपलब्ध की।

चूंकि एम० ए० संस्कृत में मेरा विषय काश्मीर शैव दर्शन था, इसी अभिरुचि के कारण तथा इसके विकास एवं प्रसार की मूल स्थली कश्मीर होने के कारण मैंने कश्मीर विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग से शोधकार्य करना सर्वथा उचित समझा। इसीलिए मैंने माननीय प्रो० सत्यभामा राज़दान जी से विषय चयन एवं

उचित मार्गदर्शन हेतु प्रार्थना की। विशालहृदया एवं विदुषी विभागाध्यक्षा जी ने मेरी प्रार्थना स्वीकार कर प्रस्तुत शोध विषय – ''काश्मीर शैवदर्शन एवं स्वातन्त्र्यदर्पण समीक्षात्मक विवेचन'' – प्रो० डॉ० जागीर सिंह के साथ परामर्श करके प्रदान किया। शोधविषय की सम्यक् सम्पन्नता हेतु यथार्थपरामर्श के लिए विषय मर्मज्ञ होने के कारण उनको सह निर्देशक भी नियुक्त करवा दिया।

मैंने प्रस्तुत शोध विषय को सम्यक् प्रतिपादन एवं व्यवस्थापन हेतु निम्न सात अध्यायों में इस प्रकार विभाजित किया है –

विषयानुक्रमणिका, संकेत सूचि, प्राक्कथन के पश्चात् प्रथम अध्याय में – कश्मीर में अद्वैत शैव विचारधारा का विकास – शीर्षक के अन्तर्गत शैव दृष्टिकोण की मूलस्थिति, शैव धर्म में दार्शनिक स्वरूप का परिवेश और प्रमुख दार्शनिक शैवाचार्य एवं उनका कृतित्व दिग्दर्शित् करते हुए सोमानन्द, उत्पलदेव, लक्ष्मणगुप्त, अभिनवगुप्त, क्षेमराज, वरदराज, योगराज, मधुयोगिन, जयरथ, भट्टआनन्द, शिवोपाध्याय, शितिकण्ठ, भास्करकण्ठ, महेश्वरानन्द, लल्लेश्वरी, लक्ष्मणजू और अमृतवाग्भवाचार्य आदि का वर्णन किया गया है।

''स्वातन्त्र्यदर्पणकार का दार्शनिक अवदान'' संज्ञक द्वितीय अध्याय में 20 वीं शताब्दी के प्रसिद्ध विद्वान् शैव आचार्य पं० बलजिन्नाथ का जीवन परिचय, स्थितिकाल एवं व्यक्तित्व प्रतिपादित करते हुए उनकी मूल तथा भाष्य रचनाओं का वर्णन किया गया है।

तृतीय अध्याय में – ''स्वातन्त्र्यदर्पण और परमसत्ता'' – नामक शीर्षक के अन्तर्गत परमेश्वर का स्वरूप, परमेश्वर की शक्तियां, परमेश्वर के कार्य, परमेश्वर का निमित्त–उपादान

कारणत्व, परमेश्वर का स्वतः सिद्धित्व, विश्वोत्तीर्ण–विश्वमयत्व प्रतिपादित किया गया है।

"स्वातन्त्र्यदर्पण में विश्वप्रपञ्च की अवधारणा" नामक चतुर्थ अध्याय में जगत् विषयक काश्मीर शैव दर्शन के परिप्रेक्ष्य में स्वातन्त्र्यदर्पण अनुसार दिग्दर्शित किया गया है। इसमें सर्वप्रथम शुद्धतत्त्व के अन्तर्गत शिव तत्त्व और शक्ति तत्त्व का वर्णन किया गया है। पुनः शुद्धाशुद्ध सृष्टि का वर्णन करते हुए सदाशिव तत्त्व, ईश्वर तत्त्व, और सद्विद्या तत्त्व उल्लेख किया गया है। तत्पश्चात् अशुद्ध सृष्टि का चित्रण करते हुए माया तत्त्व, कला तत्त्व, विद्या तत्त्व, राग तत्त्व, काल तत्त्व, नियति तत्त्व, पुरुष तत्त्व, प्रकृति तत्त्व का वर्णन किया गया है। इसके पश्चात् अन्तः करण के रूप में बुद्धि अंहकार और मन तथा बहिष्करण के अन्तर्गत श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना, घ्राण रूप पाँच ज्ञानेन्द्रियों तथा वाक् पाणि, पाद, पायु, उपस्थ रूप पाँच कर्मेन्द्रियों का वर्णन किया गया है। सूक्ष्म तत्त्वों के अन्तर्गत शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध पाँच तन्मात्राओं तथा आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी रूप पाँच स्थूलभूतों का प्रस्तुतीकरण किया गया है। तत्पश्चात् शिव से लेकर सकल पर्यन्त सात प्रमाताओं, प्राण का स्वरूप एवं प्राणादि, इसके भेदों का वर्णन किया गया है।

पंचम अध्याय में – "स्वातन्त्र्य सम्मत बन्ध–मोक्ष" – नामक शीर्षक के अन्तर्गत जीव के बन्धन के रूप में इसके स्वरूप तथा कारण का वर्णन करते हुए अज्ञान के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए बौद्ध और पौरुष अज्ञान का वर्णन किया गया है। पुनः मलत्रय के अन्तर्गत आणव मल, मायीय मल और कार्म मल का वर्णन करते हुए कलादि पञ्च कञ्चुकों का वर्णन किया गया है। मोक्ष का स्वरूप स्पष्ट करते हुए उसके हेतु बौद्ध ज्ञान एवं पौरुष ज्ञान पर

प्रकाश डाला गया है। मुक्त पुरुष का वर्णन करते हुए जीवन्मुक्त, विदेहमुक्त और भैरवात्मिका मुक्ति का वर्णन किया गया है। ‘‘स्वातन्त्र्यदर्पण के अनुसार शिवत्व प्राप्त्युपाय’’ नामक शीर्षक वाले षष्ठ अध्याय में अनुपाय, शाम्भवोपाय, मातृकोपाय, शाक्तोपाय (याग, होम, जप, व्रत और योग), आणवोपाय (उच्चार योग, करण योग, ध्यान योग, वर्ण योग और स्थानप्रकल्पना योग) और भक्ति योग, उसके विघ्न तथा माहात्म्य का वर्णन किया गया है।

सप्तम अध्याय में ‘‘स्वातन्त्र्य सिद्धान्त का अन्य दर्शनों में स्थान’’ नामक शीर्षक के अन्तर्गत आरम्भवाद, परिणामवाद, विवर्तवाद, बौद्धवाद और स्वातन्त्र्य सिद्धान्त पर प्रकाश डाला गया है।

उपसंहार के रूप में समस्त शोध विषय के सार तत्त्व का तर्कसंगत प्रतिपादन किया गया है। इसके साथ ही स्वातन्त्र्य की भौतिक एवं अध्यात्म जीवन में महत्ता पर प्रकाश डाला गया है।

इस शोध विषय के सुचारु एवं तर्कसंगत व्यवस्थापन हेतु मूल एवं सहायक सामग्री संस्कृत विभाग एवं अल्लामा ईकबाल केन्द्रीय पुस्तकालय, कश्मीर विश्वविद्यालय श्रीनगर, ईश्वर आश्रम, निशात बाग श्रीनगर, ईश्वर आश्रम, महेन्दर नगर जम्मू, रघुनाथ संस्कृत पुस्तकालय जम्मू, रणवीर संस्कृत विद्यापीठ, जम्मू, संस्कृत विभाग पुस्तकालय एवं धन्वन्तरि केन्द्रीय पुस्तकालय, जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू आदि से उपलब्धि हेतु उनका सहृय धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ। इसके अतिरिक्त जिन–जिन विद्वान् महापुरुषों की रचनाओं से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से सहायता ली गई, उन सभी का हार्दिक आभार अभिव्यक्त करता हूँ।

इस लघु शोध प्रबन्ध के सफलतापूर्वक सम्पन्नता हेतु जिन महानानुभावों की सहायता के बिना यह कार्य सम्पूर्ण होना सम्भव

नहीं था एवं जिन्होंने पग–पग पर आने वाली समस्याओं एवं सुबोध अर्थ प्रकाशन में मेरा न केवल प्रसन्नतापूर्वक मार्गदर्शन किया, अपितु पूर्ण सहयोग पूर्वक सर्वथा उत्साहित भी किया, उनमें सर्वप्रथम मैं सम्मानीया प्रो० डॉ० सत्यभामा राज़दान, संस्कृत विभागा अध्यक्षा एवं डीन फैकल्टी ऑफ ओरियन्टल लेंग्वेजज लर्निग, कश्मीर विश्वविद्यालय श्रीनगर तथा प्रो० डॉ० जागीर सिंह, संस्कृत विभाग, जम्मू विश्वविद्यालय जम्मू का हार्दिक रुप से धन्यवाद ज्ञापन सहित आभार अभिव्यक्त करता हूँ।

मैं सर्वथा विनम्रभावेन आद्य शक्ति महामाई भगवती का जगत् कल्याण हेतु लघु शोध प्रबन्ध के निर्विध्न सुसम्पन्नता हेतु हार्दिक आभारी हूँ एवं पुनः पुनः शतशत नमन करता हूँ।

शोध छात्र Laxmi Narayan
(लक्ष्मी नारायण)

अगस्त, 2012

शब्द संकेत सूची

शब्द संकेत–सूची

1.	अनु० प्र० पं०	अनुत्तरप्रकाशपञ्चशिका
2.	अभि० भा०	अभिनव भारती
3.	आ० वि०	आत्मविलास
4.	ई० प्र० का०	ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका
5.	ई० प्र० वि०	ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी
6.	ई० प्र० वि० वि०	ईश्वरप्रत्यभिज्ञावृत्तिविमर्शिनी
7.	ऐ० उप०	ऐतरेय उपनिषद्
8.	ऋ० वे०	ऋग्वेद
9.	क० सं० ग्र०	कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली
10.	गु० परा०	गुरूनाथ परामर्श
11.	छां उप०	छान्दोग्योपनिषद्
12.	त० सं०	तत्त्व सन्दोह
13.	तै० उप०	तैत्तिरीय उपनिषद्
14.	तं० आ०	तन्त्रालोक
15.	तं० आ० वि०	तन्त्रालोक विवेक
16.	तं० सा०	तन्त्रसार
17.	ध्या० श्लो०	ध्यानश्लोका
18.	ध्व० आ०	ध्वन्यालोक
19.	प० सा०	परमार्थसार
20.	प० सा० वि०	परमार्थसारविवृति
21.	प० शि० स्तो०	परमशिव स्तोत्र
22.	परा० प्रा०	पराप्रावेशिका
23.	परा० त्रिं०	परात्रिंशिका
24.	परा० त्रिं० वि०	परात्रिंशिकाविवरण
25.	प्र० हृ०	प्रत्यभिज्ञाहृदम्

26. प्र० हृ० टी०	प्रत्यभिज्ञाहृदम् टीका
27. बो० पं०	बोधपञ्चदशिका
28. भ० गी०	भागवद्गीता
29. भ० गी० सर्व० भ० टी०	भागवद्गीता सर्वतो भद्र टीका
30. भास्०	भास्करी
31. भा० भा०	भास्करी भाष्य
32. महा० मं०	महार्थमञ्जरी
33. महा० प्र०	महानयप्रकाश
34. मा० वि०	मालिनी विजय
35. मा० वि० वा०	मालिनी विजय वार्त्तिक
36. यजु० वे०	यजुर्वेद
37. यो० भा०	योग भाष्य
38. राज० तंर०	राजतरंगिनी
39. ल० वा०	ललवाक्
40. ल० द्य० वा०	ललद्यदवाक्
41. वि० भै०	विज्ञान भैरव
42. शा० ति० टी०	शारदातिलक टीका
43. शि० आय०	शिवायनम्
44. शि० दृ०	शिवदृष्टि
45. शि० दृ० वृ०	शिवदृष्टि वृत्ति
46. शि० स्तो०	शिवस्तोत्रावली
47. शि० स्तो० टी०	शिवस्तोत्रावली टीका
48. शि० सू०	शिवसूत्र
49. शि० सू० वा०	शिवसूत्र वार्त्तिक
50. शि० सू० वि०	शिवसूत्रविमर्शिनी
51. स्तु० कु०	स्तुतिकुसुमाञ्जली
52. स्प० का०	स्पन्दकारिका

53. स्प० का० वि०	स्पन्दकारिका विवृत्ति
54. स्प० नि०	स्पन्दनिर्णय
55. स्प० वि०	स्पन्दविवृति
56. स्प० सं०	स्पन्दसन्दोह
57. स्वा० परा०	स्वात्मपरामर्श
58. स्वा० द०	स्वातन्त्र्यदर्पण
59. स्वा० द० टी०	स्वातन्त्र्यदर्पण टीका
60. स्वच्छ० तं०	स्वच्छन्द तन्त्र
61. सां० द०	सांख्य दर्शन
62. स० द० सं०	सर्वदर्शन संग्रह
63. षट्० त्रि० त० सं०	षट्त्रिंशतत्त्वसन्दोह

प्रथम अध्याय

कश्मीर में अद्वैत शैव विचारधारा का विकास

प्रथम अध्याय

कश्मीर में अद्वैत शैव विचारधारा का विकास

(क) शैव दृष्टिकोण की मूलस्थिति :

भारतीय दर्शन की प्रमुख तीन धाराओं वैदिक, अवैदिक और आगमिक में से आगमिक परम्परा में आने वाले दर्शनों में काश्मीर शैव दर्शन की प्रमुख भूमिका है। ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने पर पता चलता है कि शैव धर्म अत्यन्त प्राचीन है, जितना कि सच्चिदानन्द स्वरुप परमशिव। इस दर्शन के आदि और अन्त का पता लगाना कठिन है, क्योंकि इसका सीधा सम्बन्ध शिव से है, जिसके स्वरूप का आदि और अन्त ब्रह्मा आदि देवता भी नहीं पा सके हैं। अतः अज्ञानग्रस्त मानव की वाणी की पहुँच से परे है। शैवधर्म की प्राचीनता का संकेत वेदों से भी मिलता है। ऋग्वेद में शिवलिंग की उपासना का उल्लेख है।[1] शिव के विभिन्न नाम यथा रुद्र और पशुपति आदि का चारों वेदों में उल्लेख हुआ है। ऋग्वेद में रुद्र और त्र्यम्बक का संकेत भी कुछ ऋचाओं में मिलता है।[2] इसके अतिरिक्त सामवेद, शुक्ल–यजुर्वेद आदि में रुद्र की प्रार्थना में कहे गये छन्दों का विवरण मिलता है।[3]

उपनिषदों में भी इसका उल्लेख मिलता है।[4] इन विवरणों के आधार पर यह अनुमानित किया जाता है कि शैवदर्शन शैवधर्म के रूप में वैदिक काल से भी पहले था। श्रुतिवाक्यों से सिद्ध होता है कि एकमात्र पूर्णाहं संविद्रूपपरमशिव (परमात्मा) ही

---

1. 'शिश्नदेवाह'– ऋ० वे०, म० 7, सू० 22
2. 'इमा रुद्राय तपसे, इमा रुद्राय स्थिरधन्वने, ''त्र्यम्बकमयजामहे''। –ऋ० वे० (1, 114, 1) (7, 46, 1)
3. त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिम्पुष्टिवर्धनम्।
उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीयमामृतात्। – यजु० वे०, 3/60
4. सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं तदैकं आहुरसदेवेदमग्र
आसीदेकमेवाद्वितीयं तस्मादसतः सज्जायत।। – छां० उप० 6/7/1

सृष्टि से पूर्व था एवं उसने ईक्षणरूप संकल्प किया कि मैं सम्पूर्ण लोकों की रचना करूँ। इस प्रकार वही परमशिव इदम् रूप में भावरूपात्मक जगद्रूप से व्यक्त हो गया।[1]

परवर्तीकाल में बौद्धों का योगाचार, वज्रयान आदि एवं मत्स्येन्द्रनाथ, गोरखनाथ आदि का नाथपन्थी योग आदि तो भारत में शैवधर्म की प्रधानता का प्रतीक है ही, साथ ही अजन्ता–एलोरा आदि अत्यन्त प्राचीन मन्दिरों में उट्टंकित विभिन्न शृँगारिक मुद्रा की प्रतिमाएँ और चित्र भी सुदूर प्राचीनकाल में शैवधर्म सम्मत विचारधारा को उजागर करते हैं। यह बात सर्वविदित है कि जिस प्रकार अर्थात् वेद एवं उपनिषद् भारतीय आस्तिक दर्शनों के मूल हैं, ठीक उसी प्रकार आगम अर्थात् तन्त्रशास्त्र भी शैवदर्शन के मूल उत्स माने जाते हैं।[2]

शास्त्रीय दृष्टि से विचार करने पर शैव दर्शन के प्रारम्भिक इतिहास पर प्रकाश पड़ता है। वेदों के समान शैवागमों का उद्‌भव भी शैव अनादिकाल से ही मानते हैं। उनका विश्वास है कि शैवागमों के उद्‌भव जैसी कोई तिथि नहीं है, क्योंकि वे स्वयं भगवान् रचित हैं। काल क्रम से केवल उनके लोक प्रकाशन का आविर्भाव और तिरोभाव होता रहता है। कश्मीर के शैवाचार्य सोमानन्द ने शिवदृष्टि के सातवें आह्निक में शैवशास्त्रों के आविर्भाव का उल्लेख करते हुए लिखा है कि कलियुग का प्रारम्भ होने पर शिवशासन के व्याखयाता ऋषिगण सामान्यजनों की पहुँच के परे कलापि ग्राम आदि दुर्गम पर्वतीय स्थानों पर चले गये। उपदेष्टृजनों की परम्परा के इस प्रकार तिरोहित हो जाने पर लोक में शैवशास्त्रों का प्रचार व्युच्छिन्न हो गया और

1. आत्मा वा इदमेकं एवाग्र आसीन्नान्यत्किंचन मिषत् स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति। स इमाल्लोकानसृजत्।। – ऐत० उप० 1/1,2
2. दशाष्टादशवस्वष्टभिन्नं यच्छासनं विभो। तत्सारं त्रिकशास्त्रं हि तत्सारं मालिनीमतम्।। – तं० आ०, प्र० आह०, श्लो 18

अज्ञानान्धकार में भटक कर लोग दुःखी होने लगे। संसृति-सागर में निमग्न जीवों के प्रति अपार करुणा से प्रेरित होने के कारण भूतल पर श्रीकण्ठनाथ के रूप में अवतीर्ण भगवान् शिव ने कैलाश पर्वत पर विहार करते हुए रहस्यशास्त्र के पुनः प्रचार के लिए दुर्वासा मुनीश्वर को आदेश दिया। भगवान् शिव से आदेश पाकर महामुनि श्रीदुर्वासा ने त्र्यम्बकादित्य नामक पुत्र (शिष्य) को उत्पन्न किया और शैवागम का समस्त रहस्य उसमें संक्रमित करके उसे अद्वैत शैवागम के प्रचार के लिए नियुक्त किया। इस प्रकार अद्वैत शैवागम का प्रादुर्भाव हुआ।[1] आगे चल कर यह अपने प्रथम प्रवर्तक त्र्यम्बक के नाम पर त्र्यम्बकशास्त्र के नाम से लोक में प्रसिद्ध हुआ।[2]

त्र्यम्बकादित्य की परम्परा में पन्द्रहवां सिद्ध घूमते-घूमते कश्मीर गया और वहीं बस गया।[3] उसका पुत्र संगमादित्य हुआ। उसका पुत्र वर्षादित्य था, जिसका पुत्र अरुणादित्य हुआ। उसका आनन्द और उसका प्रसिद्ध शैवाचार्य सोमानन्द हुआ। सोमानन्द एवं उनकी शिष्य परम्परा के द्वारा आगे चलकर इस शास्त्र का परिपूर्ण विकास कश्मीर देश में ही हुआ।

शिवदृष्टि में आचार्य सोमानन्द ने अपने आपको त्र्यम्बकादित्य की बीसवीं पीढ़ी में बताया है। अतएव आचार्य सोमानन्द के काल से काश्मीर शैवागम के उद्भव का कालनिर्णय किया जा सकता है। डॉ० पाण्डेयजी ने सोमानन्द को त्र्यम्बकादित्य का उन्नीसवाँ वंशज लिखा है[4], किन्तु उनका यह मत अनुचित है क्योंकि शिवदृष्टि में सोमानन्द ने स्पष्टतः

---

1. द्रष्टव्य – शि० दृ० आ० 7/107-121
2. एवमेषां त्र्यम्बकाख्या तेरम्बा देशभाष्या।
   स्थिता शिष्यप्रशिष्याद्यैर्विस्तीर्णा मठिकोदिता।। – तदेव, आ० 7/121-122
3. शि० दृ० आ० 7/114-119
4. द्रष्टव्य – अभिनवगुप्तः-एन हिस्टोरिकल एण्ड फिलोसोफिकल स्टडी, पृ० 73

लिखा है कि वह त्र्यम्बकादित्य का बीसवाँ वंशज था[1] क्योंकि उसके पन्द्रहवें पूर्वज ने ब्राह्मण कन्या से विवाह किया था और उससे उत्पन्न सोलहवां पूर्वपुरुष संगमादित्य कश्मीर में आकर बसा था। संगमादित्य के बाद वर्षादित्य, अरुणादित्य और आनन्द की तीन पीढ़ियाँ और बीतने पर बीसवीं पीढ़ी में सोमानन्द उत्पन्न हुये।[2] इस प्रकार सोमानन्द त्र्यम्बकादित्य का उन्नीसवाँ वंशज न होकर बीसवाँ वंशज था।

भगवद्गीता विवरण के अन्त में स्पन्दकारिका के विवृतिकार राजानक रामकण्ठ ने अपने आपको मुक्ताकण का अनुज बताया है।[3] राजतरंगिणी से यह भी ज्ञात होता है कि मुक्ताकण कश्मीर नरेश अवन्तिवर्मा (855–56 तः 883–84) का समकालीन था।[4] तदनुसार रामकण्ठ भी अवन्तिवर्मा का समसामयिक सिद्ध होता है। इसके अतिरिक्त स्पन्दविवृति में रामकण्ठ ने अपने–आपको आचार्य उत्पलदेव का शिष्य बताया है।[5] तन्त्रालोक

---

1. सिद्धस्तद्धत्सुतोत्पत्त्या सिद्धा एवं चतुर्दश।
तस्मादस्मि समुद्भूतः सोमानन्दाख्य ईदृशः।।– शि० दृ०, आ० 7/114–120

2. शैवादीनि रहस्यानि पूर्वमासन्महात्मनाम्।
....
तस्मादस्मि समुद्भूतः सोमानन्दाख्य ईदृशः।। – शि० दृ०, पृ० 22–222

3. यो नारायण इत्यभूच्छ्रुतिनिधिः श्रीकान्यकुब्जे द्विजस्तद्वंशे स्वगुणप्रकर्षखचितो मुकताकणाख्योऽभवत्। तस्यैषा सदृशानुजेन रचिता रामेण विद्वज्जन, श्लाध्यत्वात्सफलश्रमेण भगवद्गीतापदार्थप्रथा।।–भ०गी०वि०, पृ० 405, श्लो०5

4. मुक्ताकणः शिवस्वामी कविरानन्दवर्धनः।
प्रथां रत्नाकरश्चागात् साम्राज्येऽवन्तिवर्मणः। – राज० तरं०, अ० 5, श्लो० 34

5. (क) सद्विद्यासरसिविभूषणवरस्फारोत्पलोच्चाशयप्रोत्सर्पत्परिपक्वबोधमधुपेनेदं मयागयि यत्।
रामेणानुपमप्रमोदमधुरं बद्धावधानस्यात्च्छ्रोतुः कस्य न चेतनस्य तनुते विश्रान्तिमन्तः पराम्।। – स्प० वि०, श्लो० 2, पृ० 167

(ख) कृतिस्तत्रभवतो महामहेश्वराचार्य–शिरोमणिराजानक श्रीमदुत्पलदेवपादपद्मानुजीविनो राजानकश्रीरामकण्ठस्य।। – स्प० वि०, अन्ते। पृ० 168

(ग) अगाधसंशयाम्भोधिसमुत्तरणतारिणीम्।
वन्दे विचित्रार्थपदां चित्रां तां गुरुभारतीम्।। –स्प० का० 4/1, पृ० 165

में भी अभिनवगुप्त जैसे महान् विद्वान् ने उत्पलदेव को सोमानन्द का ही पुत्र बताया है।[1]

अब यदि हम परम्परागत रीति से प्रत्येक पीढ़ी के लिये पच्चीस वर्षों की अवधि मान लें, तो इस प्रकार रामकण्ठ के प्रगुरु आचार्य सोमानन्द का आविर्भाव आठवीं शती ईस्वी की समाप्ति के आसपास हुआ होगा और सोमानन्द का चतुर्थ पूर्वपुरु संगमादित्य उससे सौ वर्ष पूर्व कश्मीर में बस गया होगा। संगमादित्य का सोलहवाँ पूर्वज त्र्यम्बकादित्य इस प्रकार उससे चार सौ वर्ष पूर्व हुआ होगा। इस तरह यह कहा जा सकता है कि त्र्यम्बकादित्य के लगभग पाँच सौ वर्ष के पश्चात् सोमानन्द उत्पन्न हुआ होगा। एतदनुसार श्री सोमानन्द के बीसवें पूर्वपुरुष त्र्यम्बकादित्य को महामुनि दुर्वासा से शैवशास्त्र की प्राप्ति लगभग तीसरी शती ईस्वी के बाद किसी समय हुई होगी।

चतुर्थ शती ईस्वी के प्रारम्भ से लेकर सोमानन्द के आविर्भावकाल अर्थात् आठवीं शताब्दी की समाप्ति तक काश्मीर शैव–सम्प्रदाय का क्या स्वरूप रहा, इस सम्बन्ध में उपयुक्त प्रमाणों के अभाव में कुछ नहीं कहा जा सकता। तन्त्रालोक से इतना अवश्य ज्ञान होता है कि कश्मीर नृपति ललितादित्य आचार्य अभिनवगुप्त के पूर्वपुरुष अत्रिगुप्त की विद्धत्ता से अत्यधिक प्रभावित होकर उसे अपने राज्य कश्मीर में ले आया था।[2] इससे यह भी संकेत मिलता है कि उस समय कश्मीर का राजपरिवार शैवमत का अनुयायी था अथवा उसके प्रति श्रद्धालु

1. त्रैयम्बकप्रसरसागरशायिसोमानन्दात्मजोत्पलजलक्ष्मणगुप्तनाथः।।
– तं० आ०, आह० 37, श्लो० 61

2. कोऽप्यत्रिगुप्त इति नामनिरुक्तगोत्रः शास्त्राब्धिचर्वणकलोद्यदगस्त्यगोत्रः। तमथललितादित्यो राजा निजं पुरमानयत् प्रणयरभसात् कश्मीराख्यं हिमालयमूर्धगम्।। – तं० आ०, आह० 37, श्लो० 38–39

था और कश्मीर में तांत्रिक शैव धर्म के विचार के अनुकूल वातावरण भी था। श्री सोमानन्द के चतुर्थ पूर्वपुरुष संगमादित्य का घूमते हुए सातवीं ईस्वी की समाप्ति के लगभग कश्मीर में जा पहुँचना और वहीं बस जाना भी इसी बात का प्रमाण है कि उस समय तांत्रिक शैवधर्म को राज्य की ओर से संरक्षण प्राप्त था। इन दोनों (अत्रिगुप्त और संगमादित्य के) प्रवासी ब्राह्मण परिवारों के कश्मीर में आगमन से पूर्व कश्मीर का जनसामान्य जिस धर्म का पालन कर रहा था, उसका स्वरूप शास्त्रानुमोदित निश्चित् न होकर शैवधर्म और बौद्ध धर्म सम्बन्धी सामान्य विश्वासों का एक मिश्रित रूप था।[1] अतएव संभव है, जनप्रचलित शैवधर्म को शास्त्रों का आधार देकर दृढ़मूल करने के लिए कश्मीरस्थ शैव मतावलम्बी दोनों प्रवासी परिवार धार्मिक साहित्य की रचना प्रारम्भ करके श्री सोमानन्द और वसुगुप्त के उपदेशों अथवा शास्त्रार्थों से जनरुचि को अपने सिद्धान्तों के उपदेशों अथवा शास्त्रार्थों से कॉफी प्रभावित कर चुके होंगे। अतः यह कहा जा सकता है कि काश्मीर शैवागम के उपलब्ध मुख्य आगमों का निर्माण लगभग 700 ईस्वी और 800 ईस्वी के पूर्व ही हुआ होगा और तदुपरान्त उस आगम साहित्य के सिद्धान्तों के आधार पर श्री सोमानन्द ने अपने शिवदृष्टि प्रकरण से काश्मीर शैवगम के दार्शनिकपक्ष का प्रवर्तन किया होगा। दर्शन शास्त्र की शैली में अपेक्षित परपक्ष का खण्डन और तर्कों के आधार पर स्वपक्ष का मण्डन काश्मीर शैव-साहित्य में आचार्य सोमानन्द से पहले दृष्टिगत नहीं होता।[2] इसलिए तंत्रालोक में तर्क को योगांगमुत्तमम् कहकर आचार्य सोमानन्द

---

1. अभिनवगुप्तः एन हिस्टोरिकल एण्ड फिलोसिफकल स्टडी, पृ० 87
2. तेषां (सोमानन्दपादानां) हि ईदृशी शैली–
स्वपक्षान्परपक्षांश्च निःशेषेण न वेद यः।
स्वयं स संशयाम्भोधौ निमज्जंस्तारयेत्कथम्।। परा० त्रिं० वि०, पृ० 117

को तर्क का कर्त्ता कहा गया है।[1] अतएव काश्मीर शैवदर्शन का आविर्भावकाल सोमानन्द के काल अर्थात् 800 ईस्वी के आसपास से ही मानना तर्कसम्मत है।

डॉ० पाण्डेयजी सोमानन्द का काल 850 ईस्वी मानकर प्रत्यभिज्ञादर्शन का प्रारम्भ 850 ईस्वी से मानते हैं।[2] किन्तु हमारे मत में रामकण्ठ के काल के विचार में आचार्य सोमानन्द का काल 800 ईस्वी के आसपास ही मानना उचित है, क्योंकि अवन्तिवर्मा (855–883 ई०) के समसामयिक मुक्ताकण का कनिष्ठ भ्राता होने के कारण रामकण्ठ का काल 855 ई० न मानकर यदि 5–10 वर्ष पीछे भी मान ले तो भी उससे दो पीढ़ी पूर्व होने वाले सोमानन्द को सामान्यतः 800 ई० से बहुत पीछे रखना तर्कानुकूल नहीं लगता। अतः प्रत्यभिज्ञादर्शन (काश्मीर शैवदर्शन) का प्रारम्भ लगभग 800 ई० से मानना ही अधिक उचित प्रतीत होता है।

किन्तु हमारी यह मान्यता है कि काश्मीर शैवदर्शन का प्रारम्भ लगभग 800 ई० में हुआ होगा केवल काश्मीर शैवदर्शन के सम्बन्ध में है, शैवधर्म के सम्बन्ध में नहीं। हम यह पहले ही कह चुके हैं कि शैवधर्म वेदों से भी प्राचीन है, क्योंकि वेदों तथा उपनिषदों में अनेक जगह पर शिव की उपासना का उल्लेख मिलता है। जहाँ तक कि मोहनजोदड़ों की खुदाई से भी कुछ ऐसे प्रमाण मिलते हैं, जिससे पता चलता है कि शैवधर्म उस समय भी विद्यमान था। हमने जो परम्परागत रीति से प्रत्येक पीढ़ी के लिए 25 वर्षों की अवधि मानी है वह भी सर्वथा

---

1. परमोपादेयस्वप्रकाशस्वात्मेश्वरप्रत्यभिज्ञापनपरस्य तर्कस्य कर्तारो व्याख्याताराच (सम्मानार्भं बहुवचनं) परं नमस्कर्त्तव्याः इति परामृष्टुमाह –
श्रीसोमानन्दबोधश्रीमदुत्पलविनिःसृताः।
जयन्ति संविदामोदसन्दर्भा दिक्प्रसर्पिणः।। – तं० आ० भा० 1, पृ० 30
2. द्रष्टव्य – भास्० भाग 2, भूमिका पृ० 3

युक्ति–युक्त नहीं है, क्योंकि यह निश्चित् नहीं है कि प्रत्येक ऋषि 25 वर्ष के बाद ही अपने मानस पुत्र को उत्पन्न करता रहा होगा। क्योंकि ऋषिमुनि तो हज़ारों वर्षों तक भी जीवित रहने की क्षमता रखते हैं। हमारी यह धारणा सांसारिक लोगों के लिए तो उचित है, किन्तु दुर्वासाा मुनि या त्र्यम्बकादित्य आदि के लिए नहीं। अतः यह मानना कि प्रत्येक ऋषि 25 वर्ष की अवधि पूरी हो जाने पर अपने मानस पुत्र को उत्पन्न कर देता होगा, तर्कसंगत नहीं है। इसलिए शैवधर्म के उद्भव के लिए कोई निश्चित् काल निर्धारण नहीं किया जा सकता है। किन्तु काश्मीर में शैवदर्शन की उत्पत्ति लगभग 800 ई० से मानी जा सकती है।

(ख) शैवधर्म में दार्शनिक स्वरूप का परिवेश

काश्मीर शैवदर्शन एक शुद्ध आगमिक दर्शन है और अपनी आगमिकता को स्पष्टतया निभाता है। उसे वैदिक रंग में नहीं रंगता, परन्तु ऐसा होता हुआ भी यह दर्शन वेद से विरोध नहीं करता है। कश्मीर मे पनपने वाला यह अद्वैतवादी दर्शन अनेक नामों से प्रख्यात है। इस दर्शन को 'प्रत्यभिज्ञा'[1] भी कहा जाता है। प्रत्यभिज्ञा सिद्धान्त यह है कि अज्ञान की निवृत्ति के अनन्तर गुरुओं के वचनों से जीव को ज्यों ही ज्ञान हो जाता है कि मैं शिव हूँ, त्यों ही उसे तुरन्त आत्मस्वरूप का साक्षात्कार हो जाता है। प्रत्यभिज्ञा का अर्थ ही यह है कि अपने आप को जानना, पहचानना। जब अपने स्वरूप का ज्ञान हो जाता है तो शिव का साक्षात्कार भी हो जाता है। इसे ईश्वराद्वयवाद भी इसलिए कहा जाता है कि इसमें ईश्वर ही केवल सारतत्त्व है। अज्ञान, माया

---

1. द्रष्टव्य – शि० दृ०, पृ० 296 तः 298

या जगत् आत्मा का स्वातन्त्र्यमूलक अर्थात् स्वेच्छापरिगृहीत रूप है। नट के समान परमेश्वर अपनी इच्छामात्र से नाना प्रकार की भूमिका ग्रहण करता है। इस दर्शन को अद्वयवाद भी कहा जाता है, क्योंकि इसमें एक शिव के अतिरिक्त किसी और की सत्ता नहीं मानी जाती है। इस दर्शन को शिवाद्वैत या शिवाद्वय [1] इसलिए कहा जाता है, क्योंकि इसके अनुसार इस जगत् में सब शिवरूप हैं एवं शिव ही एकमात्र सब का कारण माना जाता है। शिव अनुभवकर्ता भी है और अनुभूत पदार्थ भी है।[2] वह सदैव और सर्वत्र विद्यमान रहता है। सृष्टि के प्रत्येक कण में उसी की छवि है तथा सभी जीवों के हृदय में आत्मरूप में वही विद्यमान रहता है।

काश्मीर शैवदर्शन के साहित्य में इसे त्रिकमत कहा गया है।[3] क्योंकि शिवशासन में सिद्धातन्त्र, नामकतन्त्र तथा मालिनीतन्त्र इन तीनों तन्त्रों को सर्वाधिक प्रधानता दी गई है। ये ही तन्त्रत्रय इस दर्शन के मुख्य आधारभूत आगम ग्रन्थ हैं, जिनके सहारे त्रिकदर्शन का विकास हुआ है। काश्मीर शैवदर्शन के साहित्य में इस दर्शन को त्रिकमत के अतिरिक्त शैवरहस्य, शैवशास्त्र और शिवशासन भी कहा गया है।[4] दूसरे, यह दर्शन ज्ञान के तीनों पक्षों अर्थात् भेद, भेदाभेद और अभेद की अपने अभेदवाद के प्रकाश में व्याख्या करता है तथा इस दर्शन में अपर, परापर और पर रूप तीन त्रिक माने गये हैं।[5] शिव,

---

1. द्रष्टव्य – स्प० सं०, पृ० 10
2. भोक्तैव भोगयभावेन सदा सर्वत्र संस्थितः। – स्प० का०, 2/29
3. तच्च (त्रिकशास्त्रं) सिद्धानामकमालिन्याख्यखण्डत्रयात्मकत्वात्त्रिविधम्।
   – तं० आ०, प्र० आह्० 1, पृ० 49
4. (क) द्रष्टव्य – स्वच्छ० तं०, पृ० 1/15
   (ख) शैवादीनि रहस्यानि .... समुच्छिन्ने च शासने ... नोच्छिद्येत यथा शास्त्रं।
   – शि० दृ०, आह्० 7
5. दशाष्टादशवस्वष्टभिन्नंयच्छासनंविभोः।
   तत्सारं त्रिकशास्त्रं हि तत्सारं मालिनीमतम्।। – तं० आ०, 1/18

शक्ति और उनका संघट्ट परत्रिक कहलाता है। अपरत्रिक के अन्तर्गत शिव–शक्ति और नर हैं और परापरत्रिक में परा, परापरा और अपरा देवीत्रय अधिष्ठात्रियाँ हैं। इन तीनों त्रिकों के आधार पर प्रतिष्ठित होने के कारण भी यह त्रिकमत कहलाता है।[1] यह आगमशास्त्र, स्पन्दशास्त्र और प्रत्यभिज्ञाशास्त्र के सम्मिलित रूप का वाचक है। अथवा क्रम, कुल और प्रत्यभिज्ञा तीनों मतों को एक साथ संकेतित करता है। इस कारण से भी इसे त्रिकमत कहा जाता है। शैवमत में प्रचलित अद्वैत, द्वैताद्वैत और द्वैत सिद्धान्तों में यह प्रसिद्धि प्राप्त अद्वयार्थविषयक त्र्यम्बक सम्प्रदाय वाला त्रिकमत ही सर्वश्रेष्ठ अभिहित किया गया है, जो समस्त शैवशास्त्रों के रहस्यों का सारभूत सत्सम्प्रदाय मार्ग है।[2] अभिनवगुप्त ने तन्त्रालोक में कहा है द्वैतमत, द्वैताद्वैत मत और अद्वैत मत के क्रमशः दश, अठारह और चौसठ, कुल मिलाकर बयानवें आगम शास्त्रों में जो परमेश्वर का उपदेश कहा गया है, उसका सार ही त्रिकशास्त्र कहा जाता है। अभिनवगुप्त के अनुसार सोमानन्द ने परात्रिंशिका पर अपनी विवृति में त्रिक के अनुत्तरत्व को ही उभारा है।[3] क्रम और कुल दर्शन में भी इच्छा, ज्ञान और क्रिया अथवा परा, परापरा और अपरा देवता आदि का

---

1. (क) शिवशक्तिसंघट्टात्मकं परत्रिकशब्दवाच्यम्। – तं० आ०, भा०, पृ० 7
   (ख) इदानीमपरमपि त्रिकं परामृष्टुमाह। –तदेव, पृ० 20
   (ग) नरशक्तिशिवात्मकं त्रिकम्। – परा० त्रिं० वि०, मं० श्लो० 3
   (घ) तदेवं परं त्रिकं परामृश्य परापरमपि परामृष्टुमुपक्रममाणः
   प्रथमं तावत् परां देवीं परामृशति। – तं० आ० वि०, भा० 1, पृ० 16
2. “..... अद्वयद्वयद्वयाद्वयमतव्याख्यातृन् मठिकासु सत्सम्प्रदायमार्गं .... तेषु मतेषु प्रशस्तम् अद्वयार्थविषयकं त्रिकाख्यमतं त्र्यम्बकसम्प्रदायकं सर्वश्रेष्ठैःप्रशस्तेः यदुक्तम् – वेदाच्छैवं ततो वामं ततो दक्षं ततः कुलम्। ततो मतं ततश्चापि त्रिकं सर्वोत्तमं परम।। – तं० आ० वि०, पृ० 34
3. (क) यथोक्तम् – यस्मिन्सर्वंयतः सर्वं यः सर्व सर्वतश्च यः।
   यश्च सर्वमयो नित्यं तस्मै सर्वात्मने नमः।
   – भ० गी० सर्व० भ० टी०, पृ० 3
   (ख) तदेवानुत्तरमेतत्सर्वं गर्भीकृत्योक्तं निजविवृतौ सोमानन्दपादैः, किं बहुना सर्वमेवानुत्तरमनुत्तरत्वात् इति। –परा० त्रिं० वि०, पृ० 12

प्रत्यभिज्ञा के समान ही त्रित्व रूप निरूपित किया जाने के कारण इसके (क्रम और कुल दर्शन के) सूत्रों को भी कहीं कहीं त्रिक सूत्रों से सम्बोधित किया जाता है, जैसा कि जयरथ ने तन्त्रालोक में किया है।[1] आचार्य उत्पलदेव ईश्वरप्रत्यभिज्ञा में लिखते हैं कि भावों का अनात्मरूप से भासित होना ही अपरत्व (द्वैतभाव) और अहन्ता-इदन्ता का समान आच्छादन परापर (द्वैताद्वैत) एवं केवल अहन्ता में प्रकाशित होने पर (अद्वैतरूप) कहलाता है।[2] यही त्रिक का अभिप्राय है और इन्हीं त्रित्वों की प्रधानता से इस दर्शन का नाम त्रिक रूप से प्रसिद्ध हुआ है। त्रिक दर्शन को षडर्धशास्त्र[3] एवं षडर्धक्रमविज्ञान[4] भी कहा गया है, क्योंकि इस दर्शन के अनुसार संस्कृत-लिपि की वर्णमाला प्रकाशरूप परमशिव में अभेदभाव से रहने वाले विमर्शतत्त्व के उदयक्रम का द्योतन कराती है और इस प्रकार लिपि के प्रथम छः स्वर अ, आ, इ, ई, उ, ऊ – उसी उन्मेष क्रम का प्रतिनिधत्व करते हैं, जिस क्रम से अनुत्तर, आनन्द, इच्छा, ईशना, उन्मेष और ऊर्मि शक्तियों का परमसत्ता से उल्लसन होता है। इनमें इच्छाशक्ति और ऊर्मि रूप धारण करती हैं और आनन्दशक्ति, अनुत्तर एवं आनन्द का संघट्ट है। अतएव आनन्दशक्ति, ईशनाशक्ति और ऊर्मिशक्ति क्रमशः अनुत्तर, इच्छा और उन्मेष पर आधारित होने के कारण इन उत्तरवर्ती शक्तित्रय की ही किंचित् विकासोन्मुख अवस्थाएँ हैं, अतः इनसे अभिन्न ही

---

1. उक्तं श्री त्रिकसूत्रे च – श्री त्रिकसूत्रे इति–त्रिकं –प्रमेयसूचिकायां श्री परात्रींशिकायामित्यर्थः। – तं० आ० आह० 12, श्लो० 18
2. अत्रापरत्वं भावानामनात्मत्वेन भासनात्। परताहन्तयाच्छादात्परापरदशहि सा।। – ई० प्र० का० वृ० 3/5
3. द्रष्टव्य – तं० सा०, पृ० 12
4. द्रष्टव्य – तं० आ०, वि०, भा० 1, पृ० 28

हैं। इसलिए ह्रस्व त्रय अर्थात् अनुत्तर, इच्छा और उन्मेष ही प्रधान हैं जो क्रमशः चित् इच्छा और ज्ञान कहलाते हैं।[1]

इस दर्शन के अनुसार परमेश्वर अपनी स्पन्दरूपा शक्ति से सदैव अवियुक्त रहता है। स्पन्दरूपा शक्ति ही उसका नित्यस्वभाव है। अतएव स्पन्दकारिका की अपनी निर्णयवृत्ति में आचार्य क्षेमराज ने स्पन्दशास्त्र संज्ञा से भी इस दर्शन का उल्लेख किया है।[2] आचार्य उत्पलदेव ने भी स्पन्दकारिकाओं के लिए स्पन्दशास्त्र शब्द का प्रयोग किया है।[3]

शिवसूत्रविमर्शिनी में रहस्यात्मक साधना के कारण इस अभेदवादी दार्शनिक सम्प्रदाय को रहस्य सम्प्रदाय कहा गया है।[4] त्रिक्शास्त्र में परमशिव की स्वातन्त्र्यशक्ति अत्यन्त व्यापक अर्थ में प्रतिष्ठित है और इस स्वातन्त्र्यशक्ति से जिस विमर्शात्मक शिवस्वभाव की व्यञ्जना होती है, वह काश्मीर शिवाद्वयवाद की ऐसी विशिष्टता है जो अन्य भारतीय दर्शनसम्प्रदायों में स्फुटता से उपलब्ध नहीं होती। प्रकाशविमर्शात्मक संवित्स्वभाव भगवान् परमशिव अपने स्वातन्त्र्य स्वभाव के कारण स्वपरिगृहीतसंकोच से प्रमातृ–प्रमेयरूप में सर्वाभिन्न होते हुए भी भिन्नवत् अवभासित होकर भी स्वरूपच्युत नहीं होता और अपने संविद्रूप स्वातन्त्र्य से स्वयं ही प्रकाशित होता रहता है। अतः इस दर्शन को 'स्वातन्त्र्यवाद' की संज्ञा से भी अभिहित किया जाता है।[5] इस दर्शन को काश्मीर अद्वैत शैव दर्शन भी कहा जाता है। क्योंकि इस दर्शन के आचार्य एवं रचनायें कश्मीर में ही प्रतिफलित हुई।

---

1. द्रष्टव्य – तं० आ०, वि०, भा० 2, पृ० 186
2. द्रष्टव्य – स्प० नि०, पृ० 3
3. यथोक्तं स्पन्दशास्त्रे। – शि० दृ० वि०, पृ० 3
4. जीवलोके रहस्यसम्प्रदायो मा विच्छेदि। – शि० सू० वि०, पृ० 1
5. द्रष्टव्य – ई० प्र० वि० वि०, भा० 1, पृ० 9

दूसरे, यह शिव को ही सर्वोत्कृष्ट परमार्थ सत्ता मानते हैं। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार उपनिषदों में ब्रह्म को ही सद्वस्तु माना गया है और समस्त प्रमाता–प्रमेय आदि विश्व प्रपञ्च का उसी से उन्मीलन होना, उसी में स्थिर होना एवं उसी में विलीन होना कहा गया है।[1] उसी प्रकार इस सिद्धान्त में शिव ही सद्वस्तु माने गये हैं और उसी को विश्वलीला का उदय, प्रकाश और अन्तर्भाव आदि माना गया है। तन्त्रालोक में स्पष्ट कहा गया है कि जिस प्रकार केसर कश्मीर में उत्पन्न होकर सभी तरफ अपनी सुगन्धि फैलाता है, उसी प्रकार काश्मीर अद्वैत शैवदर्शन भी कश्मीर में उत्पन्न तथा प्रतिफलित होकर सभी तरफ अपनी कीर्ति बिखेरता है।[2] यह एक सुव्यवस्थित और अनुभूति सिद्ध दर्शन है, जिसकी आधारशिला परिपक्व ज्ञान पर अधिष्ठित है। यह मोक्ष का साधन भी है तथा मानव जीवन का परम लक्ष्य होने से स्वयं मोक्षस्वरूप भी है। माधवाचार्य अपने सर्वदर्शनसंग्रह में इस दर्शन को सर्वोत्कृष्ट बाह्यचर्या, आभ्यन्तरचर्या और प्राणायाम आदि कष्टों से रहित सर्वजन सुलभ एवं प्रत्यभिज्ञामात्र को ही मुक्ति और स्वर्गादि देने वाला मानते हैं और इस दर्शन के अनुयायियों को परम महेश्वर के नाम से सम्बोधित करते हैं।[3]

---

1. यतो व इमानि भूतानि जायन्तेयेन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशान्ति। तद्विजिज्ञासस्व। तद् ब्रह्मेति।।– तै० उप०, प्र० आ०, 1
2. श्रीसोमानन्दपादप्रभृति गुरुवरादिष्टसन्नीतिमार्गो लब्ध्वा यत्रैव सम्यक्पटिमनिघटनामशिवरुद्वैतवादः। कश्मीरेभ्यः प्रसृत्य प्रकटपरिमलोरंजयन् सर्वदेशान् देशेअन्यस्मिन्नदृष्टो घुसृणविसरवत्सर्ववन्द्यत्वमाप। – तं० आ० वि०, का० 7
3. बाह्याभ्यन्तरचर्याप्राणायामातिक्लेशप्रयासकलापवैधुर्येण सर्वसूलभमभिनवं प्रत्यभिज्ञामात्रं परापरसिद्धयुपायमभ्युच्छन्तः, परे माहेश्वरः प्रत्यभिज्ञाशास्त्रमध्यस्यन्ति।। – स० द० सं०, पृ० 347

दैवी परम्परा और मानवी परम्परा :

काश्मीर शैवदर्शन का विकास दैवी और मानवी दो परम्पराओं के अन्तर्गत हुआ है। दैवी परम्परा के अन्तर्गत तीन मानसपुत्रों त्र्यम्बक, अमर्दक और श्रीनाथ का नाम आता है। संसृति सागर में निमग्न जीवों के प्रति अपार करुणा से प्रेरित होकर भूतल पर श्रीकण्ठनाथ के रूप में अवतीर्ण भगवान् शिव ने कैलाश पर्वत पर बिहार करते हुए रहस्यशास्त्र के पुनः प्रचार के लिए दुर्वासा मुनीश्वर को आदेश दिया। इस आदेश को पाकर महामुनि दुर्वासा ने तीन मानस पुत्रों (शिष्यों) त्र्यम्बक, अमर्दक और श्रीनाथ को द्वारा उत्पन्न किया तथा शैवशास्त्र के समस्त रहस्य को उनमें संक्रमित कर उन्हें उसके प्रचार–प्रसार के लिए नियुक्त किया। शैवागाम के प्रचार–प्रसार के लिए महामुनि दुर्वासा द्वारा उत्पन्न की हुई त्र्यम्बक, अमर्दक और श्रीनाथ नामक तीन मानस पुत्रों की परम्परा दैवी परम्परा के नाम से जानी गई। अभिनवगुप्त ने तन्त्रालोक में कहा है कि अद्वैत सम्बन्धी आगम जिनके प्रणेता त्र्यम्बक माने गये हैं, चौंसठ हैं, द्वैताद्वैत मत सम्बन्धी जिनके संस्थापक श्रीनाथ कहे जाते हैं संख्या में अठारह हैं, द्वैत मत विषयक दश आगम, जिनके संस्थापक अमर्दक हैं, उत्पन्न किये। इस प्रकार कुल मिलाकर बयानवें आगम शास्त्र माने जाते हैं। इन बयानवें आगम शास्त्रों में जो परमेश्वर का उपदेश कहा गया है, उसका सार ही त्रिकशास्त्र कहा गया है।

मानवी परम्परा के अन्तर्गत वसुगुप्त, भट्टकल्लट, उत्पलदेव, अभिनवगुप्त, लक्ष्मणगुप्त, क्षेमराज, भास्करकण्ठ इत्यादि शैवाचार्यों का नाम आता है, जिन्होंने अपनी गुरुशिष्य परम्परा का पालन करते हुए शैवशास्त्रों (ग्रन्थों) का निर्माण किया तथा शैवधर्म को

शैवदर्शन का रूप देते हुए इसके प्रचार-प्रसार में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया।

दक्षिण की परम्पराओं के अनुसार भगवान् शिव ने स्कन्द और नन्दी को शैव सिद्धान्त का ज्ञान प्रत्यक्ष रूप से दिया तथा उन्हें आचार्य नियुक्त करते हुए शैव सिद्धान्त के प्रचार-प्रसार के लिए कहा। इन आचार्यों द्वारा दो भिन्न-भिन्न गुरु परम्परायें स्थापित हुईं, जो स्कन्द परम्परा और नन्दी परम्परा के रूप में ज्ञात है। ऐसा कहा जाता है कि जो कुछ भी शिव ने स्कन्द को प्रत्यक्ष रूप से शिक्षा दी उसे उन्होंने (स्कन्द ने) वामदेव को उपदेश दिया तथा वामदेव ने नीलकण्ठ शिवाचार्य को नीलकण्ठ शिवाचार्य ने आगे चलकर वह उपदेश सदाशिव शिवाचार्य को दिया। वे शिक्षाएँ उसके बाद शिवमन्यप्रकाश को तथा उसके बाद शिवाग्रयोगी को प्राप्त हुईं, जिन्होंने उसे अपने शिष्यों को तथा उनके शिष्यों ने अपने शिष्यों को प्रदान किया।

(ग) प्रमुख दार्शनिक शैवाचार्य एवं उनका कृतित्व

सोमानन्द

काश्मीर शैव दर्शन के प्रमुख आचार्यों में सोमानन्द का स्थान सबसे उच्च है। अनुमान के आधार पर इनका समय नवमी शताब्दी (लगभग 825-925 ई० प०) माना जाता है। इन्होंने इस दर्शन को नव मार्ग दिखाया है। इन्होंने शिवदृष्टि में अपने वंश की जानकारी देते हुए अपने आपको सिद्ध त्र्यम्बकादित्य का बीसवां वंशज बतलाया है। इनके पन्द्रहवें पूर्वज ने ब्राह्मण कन्या से विवाह किया था। उससे उत्पन्न सोलहवां पूर्व-पुरुष संगमादित्य कश्मीर में आकर बस गया था। संगमादित्य के पश्चात् वर्षादित्य, अरुणादित्य और आनन्द की

तीन पीढ़ियाँ व्यतीत होने पर बीसवीं पीढ़ी में सोमानन्द हुये थे।[1] इनके पिता का नाम आनन्द था, जो सब शास्त्रों में विशारद और महान् विभूति प्रतीत होते हैं, क्योंकि सोमानन्द ने शिवदृष्टि में अपनी विद्वत्ता की तुलना अपने पिता से की है।[2] इसी कारण इन्हें 'सोमानन्द' कहा जाता है। उत्पलदेव ने सोमानन्द को अपना गुरु कहकर सम्बोधित किया है और अपने गुरु के सिद्धान्तों को ही अपनी कृतियों के माध्यम से व्याख्यात किया है।[3]

प्रसिद्ध आचार्य अभिनवगुप्त ने भी सोमानन्द को उत्पलदेव का पिता और गुरु माना है[4], जबकि स्वयं उत्पलदेव अपने पिता का नाम उदयाकन् बतलाते हैं।[5] सोमानन्द का शैव-सिद्धान्त को एक दर्शन सिद्धान्त का रूप देने में वसुगुप्त, भट्टकल्लट एवं रामकण्ठ की अपेक्षा अधिक योगदान रहा है। सोमानन्द को तर्क का कर्ता और इनके शिष्य उत्पलदेव को उसका व्याखाता कहा गया है।[6] क्योंकि इन्होंने तद्विषयक तथ्यों के आगमसम्मत रूप को वैसा ही रखते हुए उनके अनुभूतिपरक रूप को तर्कसंगत रूप दिया है। शैवदर्शन में साक्षात् शिव को ही आदि गुरु

---

1. शैवादिनि रहस्यानि पूर्वमासन् महात्मनाम्।
   .... – शि० दव०, पृ० 297
   तस्मादस्मि समुद्भूतः। सोमानन्दाख्य ईदृशः।। – शि० दव०, पृ० 297
2. आनन्दसंज्ञकस्तस्मादुद्बभूव तथाविधः तस्मादस्मि समुद्भूतः सोमानन्दाख्य ईदृशः।। – शि० दृ०, 7/120
3. (क) ईश्वरप्रत्यभिज्ञोक्तविस्तरे गुरुनिर्मिते।
   शिवदृष्टि प्रकरणे करोमि पदसङ्गतिम्।। – शि० दृ० वृ०, मं० श्लो० 3
   (ख) इति प्रकाटितो मया सुघट एष मार्गो नवो,
   महागुरुभिरुच्यते स्म शिवदृष्टिशास्त्रे यथा।। – ई० प्र० का०, 4/16
4. त्र्यम्बकप्रसरसागरशायिसोमानन्दात्मजोत्पलजलक्ष्मणगुप्तनाथः।।
   – तं० आ०, आह० 37, श्लो० 61
5. जनस्यायत्नसिद्ध्यर्थमुदयाकरसूनुना।
   ईश्वरप्रत्यभिज्ञोयमुत्पलेनोपपादिता। – ई० प्र० का०, 4/19
6. तर्कस्य कर्तारो व्याख्याताराश्च परं नमस्कर्त्तव्या।।
   – तं० आ० वि० प्र० आ०, पृ०20

स्वीकार किया गया है और आचार्य सोमानन्द ने स्वयं कहा है कि उन्हें ज्ञान की प्राप्ति साक्षात् शिव से हुई है।[1] आचार्य सोमानन्द ने उत्पलदेव को शिक्षा प्रदान कर आचार्य पदवी प्राप्त की तथा उसके पश्चात् भी उनके शिष्य, प्रशिष्य आचार्य पदवी से सुशोभित होते रहे हैं।[2] इनका ज्ञान केवल पैतृक धरोहर के रूप में ही अथवा साक्षात् शिव से प्राप्ति पर ही निर्भर नहीं था, अपितु इन्होंने स्वयं स्वीकार किया है कि इन्होंने शास्त्रादि के अध्ययन करने से उसमें यथार्थता लाई है।[3] आचार्य सोमानन्द ने जिन शास्त्रों का अध्ययन किया उनमें से 'ऊर्मिमहाशास्त्र' भी सम्भवतः एक था, जिसका उल्लेख तन्त्रालोक में आचार्य अभिनवगुप्त ने किया है।[4]

कुछ आचार्यों ने वसुगुप्त को सोमानन्द का गुरु माना है। 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा' के सम्पादक मधुसूदन कौल[5] तथा उत्तरवर्ती अन्य दो विद्वानों ने तो स्पष्टतः सोमानन्द को वसुगुप्त का पट्ट शिष्य घोषित किया है।[6] उनकी इस सम्भावना का कारण यह लगता है कि 'शारदतिलक' तन्त्र की टीका में प्राप्त श्लोक में सोमानन्द से पूर्व 'वसुमन्त' शब्द आया है और सोमानन्द के

---

1. (क) शिवो दाता शिवो भोक्ता शिवः सर्वमिदं जगत्।
   शिवो यजति यज्ञश्च यः शिवः सोऽहमेव हि।। – तं० आ०
   (ख) शिवोदाता शिवो भोक्तेति शास्त्रतः। इति कथितमशेषं शैवरूपेण विश्वं जगदुदितमहशांघ्रयाज्ञता स्वप्नभाजा। यदधिगमबलेन प्राप्य सम्यग्विकासं भवति शिवमयात्मा सर्वभावेन सर्वः।।
   – शि० दृ० वृ०, स० आह्०, पृ० 221
2. श्री कण्ठं वसुमन्तं (वसुगुप्तं) सोमानन्दं तथोत्पलाचार्यम्।
   लक्ष्मणमभिनवगुप्तं बन्दे श्रीक्षेमराजं च।। – शा० ति० टी०, श्लो० 3, पृ० 7
3. न स्वबुद्ध्या शिवो दाता शिवो भोक्तेति शास्त्रतः।– शि० दृ० 7/106 आरम्भे।
4. श्रीमदूर्मिमहाशास्त्रे सिद्धसन्तानरूपके।
   इदंमुक्तं तथा श्रीमत्सोमानन्दादिदेशिकैः। – तं० आ०, आ० 2, श्लो० 49
5. द्रष्टव्य ई० प्र०, भा० 2, प्रस्तावना
6. (क) भारतीय दर्शन, पृ० 577
   (ख) कामायनी में काव्य, संस्कृति और दर्शन, पृ० 410

बाद जिन शैवाचार्यों के नाम उस श्लोक में है वे संयोगवश एक ही गुरु–शिष्य परम्परा के हैं। अतः 'वसुमन्त' शब्द को 'वसुगुप्त' शब्द मानकर (जिसका कोई आधार नहीं है) स्पष्टतया कुछ विद्वानों ने यह सम्भावना अभिव्यक्त है कि वसुगुप्त सोमानन्द का गुरु था। किन्तु उनकी यह सम्भावना अनुचित है कि वसुगुप्त सोमानन्द का गुरु था क्योंकि विज्ञानभैरव के टीकाकार भट्टआनन्द ने भी काल–क्रम से शैवागमों के उद्धार के लिए मर्त्यलोक में अवतीर्ण होने वाले कश्मीर के शैव गुरुओं की प्रस्तुति की है।[1] उनके द्वारा उल्लिखित शैव गुरुओं की इस नामावली में श्रीकण्ठ से लेकर अभिनवगुप्त तक के नाम हैं, किन्तु वसुगुप्त का नाम इस नामावली में नहीं है और सोमानन्द के बाद तथा उत्पल से पूर्व भूतिराज का नाम है, जिसे अभिनवगुप्त ने ब्रह्मविद्या में अपना गुरु बताया है।[2] अतः यही युक्तिसंगत लगता है कि सोमानन्द वसुगुप्त का शिष्य नहीं था। सोमानन्द ने 'शिवदृष्टि' में अपनी गुरु–परम्परा में अपने पिता आनन्द को ही अपना गुरु कहा है क्योंकि वह वंश परम्परा शैवशास्त्र के आचार्यों के अवतार की परम्परा है।

सोमानन्द द्वारा सन्दर्भित 'शिवो दाता शिवो भोक्ता' का पूर्ण श्लोक कश्मीर में बहुत प्रसिद्ध है। अतः सोमानन्द एक महान् विभूति थे तथा काश्मीर शैव दर्शन के विकास में उनका विशेष योगदान रहा है।

---

1. श्रीविद्यां श्रीकण्ठमूर्तिं महेशं सोमानन्दं भूतिराजोत्पलेशौ।
कालेनास्तंयातशैवागमानां प्रोद्धृत्यै ये मर्त्यलोकेऽवतीर्णाः।
श्रीलक्ष्मणाभिनवगुप्तमुखांस्त्रिकार्थतत्त्वानुशासनमहाम्बुधिशीतरश्मीन्।
– वि० भै० प्रार०, श्लो०
2. तं० आ० आह्०, 30/62–63

कृतियाँ – शिवदृष्टि, परात्रिंशिका विवृति, शाक्त–विज्ञानम् इनमें से शिवदृष्टि शैव दर्शन की अति महत्त्वपूर्ण एवं उपजीव्य रचना मानी जाती है।

आचार्य उत्पलदेव

आचार्य उत्पलदेव काश्मीर अद्वैत शैवदर्शन के उच्च आध्यात्मिक दृष्टिकोण सम्पन्न एक दार्शनिक विद्वान् थे, जिनका नाम काश्मीर शैवाचार्यों में अग्रणी एवं प्रेरणादायक है। शिव के प्रति अत्यधिक प्रेम होने के कारण इन्होंने शिव को ही अपना सब कुछ माना तथा अपनी वंश–परम्परा के बारे में कहीं कुछ नहीं लिखा। उत्पलदेव शिव के परम भक्त थे और उन्हें महेश्वर के साक्षात्कार की अनुभूति सदैव होती रहती थी। उन्होंने अपने जीवन में सबसे अधिक महत्त्व महेश्वर की भक्ति को ही दिया है। इसी कारण इन्हें सिद्ध पुरुष भी कहा जाता है।[1] जन–कल्याण हेतु 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा' नामक कृति के प्रतिपादक के रूप में इन्होंने अपने को 'उदयाकरसूनु' उत्पल के नाम से सम्बोधित किया है।[2] राजानक क्षेमराज ने इन्हें प्रत्यभिज्ञाकार कहकर निरूपित किया है।[3] आचार्य अभिनवगुप्त ने इन्हें शास्त्रकार, सूत्रकार, वृत्तिकार एवं टीकाकार के रूप में निरूपित किया है।[4] इन्होंने अद्वैत दृष्टिकोण को ही अपनाया है। यह प्रत्यभिज्ञा सिद्धान्त के व्याख्याता भी थे। यह एक सफल गृहस्थी

---

1. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारो वन्द्याभिधानः श्रीमदुत्पलदेवाचार्योऽस्मत्परमेष्ठी सततसाक्षात्कृतस्वात्ममहेश्वरः।। – शि० स्तो० टी०, पृ० 1
2. जनस्यायत्नसिद्ध्यर्थमुदयाकरसूनुना। ईश्वरप्रत्यभिज्ञेयमुत्पलेनोपपादिता।
   – ई० प्र०, 4/18
3. द्रष्टव्य – शि० स्तो० टी०, पृ० 1
4. इह एक एव श्रीमदस्मत्परमेष्ठि श्री सोमानन्दपादप्रसादापसारितसंकोचः श्रीमान् उत्पलाख्यः शास्त्रकारो विकस्वरस्वहृदयकमलपरिमलपवित्रितदिगन्तः।।
   – ई० प्र० वि० वि०, पृ० 2, भा० 1

भी थे जिनके सफल गृहस्थ–जीवन को एक आदर्श स्वीकार किया गया है, जिसका प्रचलन ऋषि–मुनियों के पवित्र जीवन में भी मिलता है। एक गृहस्थी होते हुए भी वह साधु के रूप में जीवन व्यतीत करते थे।[1] श्रीनगर स्थित गुप्तपुर में इनका निवास स्थान था।[2] आचार्य उत्पलदेव ने अपने ग्रन्थ शिवदृष्टिवृत्ति में अपने एक पुत्र का वर्णन भी किया है, जिसका नाम विभ्रमाकर था। इसके अतिरिक्त अपने एक गुरुभाई का उल्लेख भी किया है, जिसका नाम पद्मानन्द था। अपने पुत्र विभ्रमाकर तथा सहपाठी पद्मानन्द के विनम्र आग्रह पर ही इन्होंने शिवदृष्टि पर वृत्ति लिखी थी।[3] इन्होंने अपने पिता का नाम 'उदयाकर' बतलाया है[4] किन्तु अभिनवगुप्त जैसे महान् शैवाचार्य ने इन्हें सोमानन्द का ही पुत्र एवं शिष्य अभिव्यक्त किया है।[5] इससे लगता है कि उदयाकर की ही सोमानन्द के रूप में प्रसिद्धि रही होगी। लक्ष्मणगुप्त इनके अत्यन्त योग्य पुत्र एवं शिष्य थे, जिन्होंने अपनी कृतियों के माध्यम से इनके महान् ज्ञान का प्रचार–प्रसार किया।[6] राजानक श्रीरामकण्ठ ने भी स्वयं को उत्पलदेव का शिष्य बतलाया है।[7] प्रत्यभिज्ञादर्शन के संस्थापक

---

1. ईदृशेन य एकाकिसम्पदा लज्जते , तत एव आर्द्राशयः सरसविमलहृदयः अतः एव विश्वरूपपरमेश्वरसमावेशोचितहृदयस्तेन।।
   – ई० प्र० वि० वि०, पृ० 29, भा० 1
2. ई० प्र०, भा० 2, प्रस्तावना
3. विभ्रमाकरसंज्ञेन स्वपुत्रेणास्मि चोदितः।
   पद्मानन्दभिधानेन तथा सब्रह्मचारिणा।। – शि० दृ० वृ०, मं० श्लो० 2
4. जनस्यायत्नसिद्ध्यर्थमुदयाकरसूनुना।
   ईश्वरप्रत्यभिज्ञेयमुत्पलेनोपपादिता।। – ई० प्र० का०, 4/18
5. त्र्यम्बकप्रसरसागरशायिसोमानन्दात्मजोत्पलजलक्ष्मणगुप्तनाथः।।
   – तं० आ०, आह्० 37, श्लो० 61
6. द्रष्टव्य तं० आ० आह० 37/61
7. सद्विद्यासरलीविभूषणवरस्फारोत्पलोश्चाशयप्रोत्सर्पत्सर्पत्परिपक्वबोधमधुपेनेदं मयागयि यत् रामेणानुपमप्रमोदमधुरं बद्धावधानस्य तच्छ्रोतुः। कस्य न चेतनस्य तनुते विश्रान्तिमन्तः परम्।। – स्प० का० वि०, पृ० 167, श्लो० 2

महान् अद्वैत शैवदर्शनाचार्य सोमानन्द उत्पलदेव के गुरु थे।[1] उत्पलदेव ने स्वयं अपनी कृतियों में सोमानन्द को गुरु एवं महागुरु के रूप में आदरपूर्वक स्मरण किया है।[2] इसलिए उनके शिष्य के रूप इनका समय 850–950 ई० प० के मध्य माना जाता है। आचार्य उत्पलदेव परोपकारी, निःस्वार्थी एवं कोमल हृदय व्यक्ति थे। इनके माता, बहिन, भाई अथवा बान्धवों के विषय में कुछ भी जानकारी उपलब्ध नहीं होती है, परन्तु अपनी प्रसिद्ध भक्ति से ओतप्रोत कृति शिवस्तोत्रावली में इन्होंने शिव तथा पार्वती को ही अपना बन्धु सखा, माता–पिता सब कुछ माना है।[3] अतः इन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन प्रभु भक्ति में सर्म्पण किया हुआ था। आचार्य उत्पलदेव आत्मा और परमात्मा की एकता के सफल प्रतिपादक थे। **कृतियाँ** – शिवस्तोत्रावली, ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका, ईश्वरप्रत्यभिज्ञा कारिका वृत्ति एवं विवृत्ति, अजड़प्रमातृसिद्धि, ईश्वरसिद्धि, सम्बन्धसिद्धि, शिवदृष्टिवृत्ति एवं सिद्धित्रयी पर वृत्तियाँ, शिवदृष्टिवृत्ति हैं। इनमें से दार्शनिक क्षेत्र में ईश्वरप्रत्यभिज्ञा तथा भक्ति के क्षेत्र में शिवस्तोत्रावली का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

राजानक श्रीलक्ष्मणगुप्त

काश्मीर अद्वैत शैवदर्शन के आचार्यों में लक्ष्मणगुप्त का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस दर्शन के अन्य आचार्यों की अपेक्षा श्रीलक्ष्मणगुप्त के जीवनकाल एवं स्थितिकाल के सम्बन्ध में बहुत ही संक्षिप्त जानकारी उपलब्ध होती है। इसका एक कारण तो

---

1. ईश्वरप्रत्यभिज्ञोक्तविस्तरे गुरुनिर्मिते।
शिवदृष्टिप्रकरणे करोमि पदसंगीतम्।। – ई० प्र० वि० वि० मं०, श्लो० 3
2. इति प्रकटितो मया सुघट एष मार्गो नवो महागुरुभिरुच्यते स्म
शिवदृष्टिशास्त्रे यथा।। – ई० प्र० का०, 4/16
3. अस्तिमेप्रभुरसौ जनकोऽथत्र्यम्बकोऽथ जननी व भवानी।
न द्वितीय इह कोऽपि ममास्तीत्येव निर्वृत्ततमो विचरेयम्।।
– शि० स्तो० टी०, 19/17

यह है कि इन्होंने अपनी किसी भी कृति में अपने विषय में कुछ नहीं लिखा है और दूसरा इनके शिष्यों ने भी इस विषय पर कोई प्रकाश नहीं डाला है। फिर भी यत्र–तत्र उपलब्ध उद्धरणों से इनके विषय में कुछ न कुछ जानकारी तो उपलब्ध हो ही जाती है। यह आचार्य उत्पलदेव के पुत्र एवं परमविद्वान् एवं सुयोग्य शिष्य भी थे। आचार्य उत्पलदेव के पश्चात् श्रीलक्ष्मणगुप्त ही त्र्यम्बक मठिका के गुरु पद से सुशोभित हुये। अतः यह प्रत्यक्षतः दैवी त्र्यम्बक सम्प्रदाय से सम्बन्धित थे।[1] इस तथ्य की पुष्टि इस बात से भी होती है कि आचार्य सोमानन्द की शिक्षाओं का संकलन उनके परम विद्वान् शिष्य उत्पलदेव ने प्रत्यभिज्ञा में साररूप में किया था और इस प्रत्यभिज्ञा ज्ञान को उनके शिष्य लक्ष्मणगुप्त ने अपने शिष्य अभिनवगुप्त को सिखाया था, जिससे जन–साधारण की भलाई एवं समाज–कल्याण हो सके।[2] शिवशक्ति एवं अद्वैत शैव भक्ति का प्रचार–प्रसार ही इनके जीवन का मुख्य लक्ष्य था।

तन्त्रालोक में आचार्य अभिनवगुप्त ने इनके प्रति अत्यन्त आदर प्रकट करते हुए इन्हें आदर सहित अपना गुरु स्वीकार किया है तथा इन्हें एक प्रकाण्ड विद्वान् और सिद्धहस्त गुरु

---

1. (क) त्र्यम्बकप्रसारसागरशायिसोमानन्दात्मजोत्पलजलक्ष्मणगुप्तनाथः।
– तं० आ०, आह्० 37, श्लो० 61

(ख) श्रीकण्ठं वसुमन्तं (वसुगुप्तं) सोमानन्दं तथोत्पलाचार्यम्।
लक्ष्मणमभिनवगुप्तं वन्दे श्री क्षेमराजं च।।
–शा० ति० टी०, श्लो० 3, पृ० 7

2. (क) श्रीत्र्यम्बकसद्वशंमध्यमुक्तामयस्थितेः।
श्रीसोमानन्दनाभस्यविज्ञानप्रतिबिम्बकम्।।
– ई० प्र० वि०, मं० श्लो० 2, तः 4

(ख) श्रीमल्लक्ष्मणगुप्तदर्शितपथः श्रीप्रत्यभिज्ञाविधौ
टीकार्थप्रविमर्शिनीं रचयते वृतिं प्रशिष्योगुरोः।।
– ई० प्र० वि० वि०, भा० 1, मं० श्लो० 2

बताते हुए इनके प्रति अपार श्रद्धा भी प्रकट की है।[1] श्रीलक्ष्मणगुप्त केवल प्रत्यभिज्ञा मत के ही नहीं अपितु क्रम और कौल मतों के भी सुप्रसिद्ध गुरु थे। आचार्य अभिनवगुप्त ने भिन्न-भिन्न विषयों की शिक्षा भिन्न-भिन्न गुरुओं से प्राप्त की थी ऐसा तो सर्वविदित ही है, किन्तु इन्होंने परमसत्ता विषयक शिवाद्वयवाद की शिक्षा लक्ष्मणगुप्त से ही ग्रहण की थी अर्थात् परमसत्ता विषयक शिवाद्वयवाद के प्रति अभिनवगुप्त की जो जिज्ञासा थी उस जिज्ञासा को आचार्य लक्ष्मणगुप्त ने ही शान्त किया था।[2] आचार्य अभिनवगुप्त ने इनकी वाणी को अमोघ बताया है तथा इनकी कृपा दृष्टि को जन्म-मरण के चक्र को मिटाने वाली माना है। अभिनवगुप्त के अनुसार इनकी वाणी में ऐसा अद्‌भुत रस था, जो असंख्य नवीन रसों के लिए अकेला ही पर्याप्त था, मानों उसमें मति को उद्‌बोधित करने की शक्ति थी।[3] अभिनवगुप्त ने क्रमदर्शन की शिक्षा आचार्य लक्ष्मणगुप्त से ही ग्रहण की थी।[4]

जिस प्रकार आचार्य लक्ष्मणगुप्त ने अपने जीवन-परिचय के विषय में कोई जानकारी नहीं दी है, उसी प्रकार इन्होंने अपने स्थितिकाल के विषय में भी कोई जानकारी नहीं दी है। परन्तु

---

1. तदास्वादपरावेशबृहितां मतिषट्पदीम्। गुरोर्लक्ष्मणगुप्तस्य नादसंमोहिनीं नुमः।। मा० वि० वा०, पृ० 2
2. श्रीशास्त्रकृद्घटितलक्ष्मणगुप्तपादसत्योपदर्शितशिवाद्वयवाददृप्तः।।
–ई० प्र० वि० वि०, भा० 3, श्लो० 3, पृ० 406
3. (क) तद्दृष्टिसंसृतिच्छेदिप्रत्यभिज्ञोपदेशिनः। येनानुत्तरसम्भोगतृप्ता मे
अप्यसंख्यनवास्वादचमत्कारैकदुर्मदा। नादसम्मोहिनी नुमः।।
मतिषट्पदीम्। गुरोर्लक्ष्मणगुप्ताय
– मा० वि० वा०, पृ० 2
(ख) तदास्वादभरावेशबृंहितां मतिषट्पदीम्। गुरोर्लक्ष्मणगुप्तस्य नादसंमोहिनीं नुमः।। –तं० आ०, भा०1, श्लो० 11
(ग) नानागुरुप्रवरपादनिपातजातसंवित्सरोरुहविकासनिवेशितश्रीः।।
– ई० प्र० वि० वि०, भा० 3, पृ० 405
4. देवीत्रिंशतिकेऽपि अस्य श्रीसोमानन्दपादेभ्यः प्रभृति त्रिकदर्शनवदेव गुरवः।
– तं० आ०, भा० 3, पृ० 194

फिर भी इनके गुरु एवं प्रगुरु के समयानुसार ही इनका स्थितिकाल निश्चित किया जा सकता है, जो लगभग 875–975 ई० बनता है।

इनके जीवन परिचय और स्थितिकाल की भाँति ही इनकी रचनाओं का भी बहुत ही कम उल्लेख मिलता है।

कृतियाँ – श्रीशारदातिलकम्, श्रीशास्त्र एवं नित्यषोड़शिकार्णव रचनाएँ मानी जाती है। इनमें से 'श्रीशास्त्र' शैव दर्शन की अति महत्त्वपूर्ण एवं उपजीव्य रचना मानी जाती है।

श्रीअभिनवगुप्त

आचार्य अभिनवगुप्त को काश्मीर शैव दर्शन में अद्वितीय स्थान प्राप्त है। अभिनवगुप्त के पिता का नाम नरसिंहगुप्त था, जो लोगों में चुखुलक नाम से प्रसिद्ध थे।[1] प्रकाण्ड विद्वान् अभिनवगुप्त के पिता भी अपने समय के प्रसिद्ध पण्डित एवं शिवभक्त थे। इनकी माता का नाम विमलकला था, अपने समय के प्रसिद्ध पवित्रात्मा थी। इनके पितामह का नाम वराहगुप्त था।[2] इनकी महान् रचना तन्त्रालोक एवं परात्रिंशिका विवरण के अनुसार इनके सुदूर पूर्वज परमविद्वान् 'अत्रिगुप्त' थे, जो मध्य भारत में स्थित गंगा–युमना के दवाब में विस्तृत हुये कानयकुब्ज राज्य के निवासी थे। उनको तत्कालीन कश्मीर का राजा ललितादित्य अपने साहित्यकला और विद्वानों से प्रेम रखने के

1. विमलकलाश्रयाभिनवसृष्टिमहाजननी, भरिततनुश्च पंचमुखगुप्तरुचिर्जनकः।
तदुभययामलस्फुरितभावविसर्गमयं, हृदयमनुत्तरामृतकुलं मम् संस्फुरतात्।।
– परा० त्रिं० वि० मं० श्लो० 1

2. तस्यान्वये महति कोऽपि वराहगुप्तनामा बभूव भगवान् स्वयमन्तकाले।
गीर्वाणसिन्धुलहरीकलिताग्रमूर्धायस्याकरोत् परमनुग्रहमाग्रहेण
तस्यात्मजश्चुखुलकेतिजने प्रसिद्धश्चन्द्रावदातधिषणो नरसिंहगुप्तः।
यं सर्वशास्त्ररसमज्जनशुभ्रचित्तं माहेश्वरी परमलंकुरुते स्म भक्तिः।।
– तं० आ० आह० 37, श्लो० 53,54

कारण अपने यहाँ लाया था।[1] राजतरङ्गिणी में कल्हण ने तत्कालीन कान्यकुब्ज के राजा यशोवर्मा के साथ कश्मीर नरेश ललितादित्य के युद्ध का वर्णन किया है, जिसमें ललितादित्य की विजय बतलाई गई है।[2] उस विजय के उपहाररूप में ही ललितादित्य 'अत्रिगुप्त' नामक अमूल्य विद्यारत्न को कश्मीर लेकर आये थे तथा उनको जेहलम नदी के किनारे भूमि एवं तदर्थ सम्पत्ति आदि देकर बसाया था।[3]

आचार्य अभिनवगुप्त ने अपने माता-पिता को आदरपूर्वक शक्ति-शिव के रूप में अभिव्यक्त किया है और इसी सामरस्य अनुभूति से अपनी उत्पत्ति बतलाई है। इसीलिए इनको 'योगिनीभूः' कहा जाता था।[4] इनके चाचा वामनगुप्त भी एक प्रसिद्ध विद्वान् हुये हैं[5], जिनके पाँच पुत्र क्षेम, उत्पल, अभिनव, चक्रक और पद्मगुप्त थे, जो सकल शास्त्र विशारद, सर्वथा योग्य तथा शिवभक्त थे। छोटी अवस्था में ही इनकी माता का देहान्त हो गया। माता के शिवधाम गमन के पश्चात् ही इनके मन में

---

1. (क) अन्तर्वेद्यामत्रिगुप्तभिधानः प्राप्योत्पत्तिं प्राविशत्प्राग्यजन्मा।
श्रीकाश्मीराश्चन्द्रचूड़ावतारैर्निःसंख्याकैः पावितोपान्तभागान्।।
– परा० त्रिं वि०, पृ० 280

(ख) निशेषशास्त्रसदनं किल मध्यदेशस्तस्मिनजायत् गुणाभ्यधिको द्विजन्मा।
कोऽप्यत्रिगुप्तइतिनामनिरुक्तगोत्रः शास्त्राब्धिचर्वणकलोद्यदगस्त्यगोत्रः।
– तं० आ० आह्० 37, श्लो० 38,39

2. द्रष्टव्य – राज० तं० 4/126 तः 145

3. तस्मिन् कुवेरपुरचारिसितांशुमौलिसाम्मुख्यदर्शनविरूढ़पवित्रभावे।
वैतस्तरोधसि निवासममुष्य चक्रे, राजा द्विजस्य परिकल्पितभूरिसम्पत्।।
– तं० आ० आह्० 37, श्लो० 52

4. शिवशक्त्यात्मकं रूपं भावयेच्च परस्परम्। न कुर्यान्मानवीं बुद्धिं रागमोहादिसंयुक्ताम्। ज्ञानभावनया सर्वं कर्त्तव्यसाधकोत्तमैः। इत्याद्युक्तनीत्या द्वयोरपि शिवशक्तिसमावेशमयत्वाभिधानस्येष्टेः काकाक्षिन्यायेन योज्यम्। तदेवम् एधसिद्धियोगिनीप्रायपितृमेलकसमुत्थतया इत्युक्तनीत्या स्वोत्पति निरुत्तरपदाद्वयज्ञानपात्रतामभिदधता ग्रन्थकृता निखिलषडर्धशास्त्रसारसंग्रह-भूतग्रन्थकरणेऽप्यधिकारः कटाक्षीकृतः।।
– तं० आ० वि०, प्र० आह०, पृ० 14-15

5. तत्र हास्याभासो यथास्मत्पितृव्यस्य वामनगुप्तस्य लोकोत्तराणि चरितानि न लोक एष सम्मन्यते यदि किमङ्ग वदाम नाम। यत्तत्र हासमुखतत्त्वममुष्य तेन, पार्श्वोपपीडमिह को न विजाहसीति – अभि० भा० भा०1, पृ० 297

वैराग्य की भावना का उदय हुआ।[1] माता के देहान्त के कुछ ही समय पश्चात् विधाता ने इनसे पितृस्नेह भी छीन लिया, जिसके परिणामस्वरूप इनका जीवन और भी कष्टदायक हो गया। इनके हृदय के भीतर छुपा हुआ मातृ-प्रेम कभी-कभी इन्हें इतना विचलित कर देता था कि वह 'इस पीड़ा को सहन न कर पाते और रो पड़ते।[2] अतः यह कहना एक अटूट सत्य है कि मातृ-वियोग के दुःख से अत्यन्त दुखी एवं विरक्त होकर एक दिन घर से चले गये। उन्हें संसार के प्रति तृण मात्र भी स्नेह नहीं रहा सम्भवतया यही इनके जीवन में मौलिक परिवर्तन लाने में कारण था।[3] वे सांसारिक मोह-जाल को त्याग कर शिवभक्ति और अध्यात्म शास्त्र अध्ययन में संलग्न हो गये। जिसके फलस्वरूप इनके मन में परममोक्ष की प्राप्ति की इच्छा उत्पन्न हो गई।

शिव-भक्ति से बचे समय में वे शास्त्र रचना करते थे। इस प्रकार उनका सम्पूर्ण जीवन शिवमय ही था। आचार्य अभिनवगुप्त ने प्रत्यभिज्ञा और क्रम सिद्धान्त में सोमानन्द (परमेष्ठी गुरु), उत्पलदेव (प्रगुरु) और लक्ष्मणगुप्त को गुरु स्वीकार किया है।[4] व्याकरण शास्त्र का ज्ञान इन्होंने अपने परमपूज्य पिता जी से

---

1. माता व्ययूजुजदमुंकिल बाल्य एव दैवं हि भाविपरिकर्मणिसंस्करोति।।
   – तं० आ०, आह्० 37, श्लो० 56
2. माता परं बन्धुरिति प्रवादः स्नेहोऽतिगाढ़ीकुरुतेहि पाशान्।
   तन्मूलबन्धे गलिते किलास्य मन्ये स्थिता जीवत एव मुक्ति।।
   – तं० आ०, आह्० 37, श्लो० 57
3. ''जगज्जीर्णख्यं भवति कलत्रेऽप्युपरते'' तारुण्यसागरतरङ्गभरानपोह्य वैराग्यपोतमधिरूह्य दृढ़ं हठेन।। यो भक्तिरोहणमवाप्य महेशचिन्तारत्नैरलं दलयति स्म भवापदस्ताः।।
   – तं० आ० वि० आह्० 37, श्लो० 55
4. (क) त्रैयम्बकप्रसरसागर शयिसोमानन्दात्मजोत्पलदेवजलक्ष्मणगुप्तनाथः।।
   – तं० आ०, आह्० 37, श्लो० 61
   (ख) दैवीपंचशतिकेऽपि अस्यसोमानन्दभट्टपादैभ्यः प्रभतित्रिकदर्शनवदेवमुखः।।
   – तं० आ० वि० भा० 3, पृ० 194

ग्रहण किया था।[1] कौलमत में सिद्धि एवं आत्मतत्त्व में परितृप्ति इन्होंने प्रसिद्ध गुरु शम्भुनाथ से प्राप्त की थी, जिनको इन्होंने शिव के सादृश्य माना है तथा जालन्धर पीठ का स्वामी बतलाया है।[2] अद्वैत तन्त्र की शिक्षा इन्होंने वामनाथ से प्राप्त की थी।[3] ध्वनि सिद्धान्त और आम्नाथ शास्त्र का भट्ट इन्दुराज ने दिया था।[4] इन्होंने ब्रह्मविद्या भूतिराज गुरु से ग्रहण की थी।[5]

द्वैताद्वैतवाद सम्प्रदाय में भूतिराज के पुत्र ही इनके शिक्षक थे।[6] साहित्य शास्त्र में भट्टतोत इनके गुरु थे।[7] तन्त्रों का ज्ञान इन्हें सुमतिनाथ ने प्रदान किया था। अर्धत्र्यम्बक शाखा मे निपुणता सिद्ध श्री सोम से सकलविज्ञ श्रीशम्भुनाथ ने प्रदान की थी।[8] इनके अतिरिक्त इन्होंने अपने गुरुओं में श्रीचन्द्र, शर्मभव, भक्तिविलास, योगानन्द, अभिनन्द विचित्रनाथ धर्म, शिव,

---

1. पित्रा सा शब्दगहने कृतसंप्रवेशस्तर्कार्णवोर्मिपृषतामतपूतचितः।।
   – तं० आ०, आह्० 37, श्लो० 58
2. (क) कश्चिद् दक्षिणभूमिपीठवसतिः श्रीमान्विभूभैरवः पंचस्रोतसि सातिमार्गविभवे शास्त्रे विधाता च यः। लोकेऽभूतत्सुमतिस्ततः समुदभूतस्यैव शिष्याग्रणीः श्रीमांछम्भुरिति प्रसिद्धिमगमाज्जालन्धरात्पीठतः।।
   – तं० आ० वि० 1/236
   (ख) श्रीशम्भुनाथभास्करचरणनिपातप्रभागपगतसंकोचम्। अभिनवगुप्तहृदम्बुजम्।। – तं० आ० आह्० 1, श्लो० 51
3. आनन्दसंततिमहार्णवकर्णधारः सद्वैशिकैरकवरात्मजवामनाथः।।
   – तं० आ०, आह्० 37, श्लो० 60
4. (क) भट्टेन्दुराजचरणब्जकृताधिवासहृद्यश्रुतोभिनवगुप्तपदाभिधोऽहम्।।
   – ध्व० आ० लो० 1
   (ख) भट्टेन्दुराजादाम्नायें विविच्य च रिधियाकृतोऽभिनवगुप्तेन सो गीतार्थसंग्रहः।। – भ० गी० मं०, श्लो० 6
5. अथोच्यते ब्रह्मविद्या सद्यः पत्ययदायिनी। शिवः भूतिराजो यामस्मभ्यं प्रत्यपादयत्।। – तं० आ०, वि०, भा०3, पृ० 60
6. श्रीनाथसंततिमहाम्बरधर्मकान्तिः श्रीभूतिराजतनयः स्वपितृप्रसादः।।
   – तं० आ०, आह्० 37, श्लो० 60
7. सद्भिप्रतोतबदनोदितनाट्यवेदतत्वार्थमर्थिजन वाछिंतसिद्धिहेतोः। माहेश्वराभिनवगुप्त पदप्रतिष्ठः सविप्तवृतिविधिना विशदीकरोति।।
   – अभि० भा०, भा० 1, श्लो० 61
8. तुर्याख्यसंततिमहोदधिपूर्णचन्द्रः श्रीसोमतः सकलवित्किल शम्भुनाथः।।
   – तं० आ०, आह्० 37, श्लो० 61

वामनक, उद्भट्ट, श्रीभूतेश और भास्कर इत्यादि गुरुओं के नाम भी लिये हैं, जिनसे इन्होंने शिक्षा ग्रहण की थी।[1] इनके बहुमुखी और विशाल व्यक्तित्व के कारण ही उस समय में घटित हुई एक सर्वधर्म आचार्य गोष्ठी में इनको 'सर्वधर्मगुरु' घोषित किया गया था।[2] जिस प्रकार मधुमक्खियाँ विभिन्न प्रकार के पुष्पों का रस चूसकर एक संजीवनी वस्तु 'मधु' तैयार करती हैं, उसी प्रकार विविध धर्मों एवं गुरुओं से शिक्षाएँ ग्रहण करके इन्होंने एक महान् और विशाल साहित्य की रचना की। इसके अतिरिक्त इन्होंने क्रम और कौल मत पर भी रचनाएँ लिखी। इनके शिष्य मधुराज योगिन के अनुसार यह सिद्धान्त, वाम, भैरवयामल, कौल, त्रिक इत्यादि उस समय के सभी प्रचलित मतों में गुरु थे।[3] त्र्यम्बकमठिका में प्रचलित गुरु-परम्परा में यह सबसे प्रसिद्ध गुरु थे।[4]

आचार्य अभिनवगुप्त के शिष्यों में से क्षेमराज इनके सबसे योग्य, प्रकाण्ड विद्वान् सर्वदर्शन विशारद और सर्वशास्त्र विज्ञाता शिष्य थे। इन्होंने अपने शिष्य मन्द्र और कर्ण आदि के बार-बार कहने पर ही मालिनीविजयवार्तिक की रचना की थी।[5] अभिनवगुप्त ने वत्सलिका के घर में रहते हुए ही अपनी

श्रीचन्द्रशर्माभवभक्तिविलासयोगानन्दाभिनन्दशिवशक्तिविचित्रनाथः।
1. श्रीचन्द्रशर्माभवभक्तिविलासयोगानन्दाभिनन्दशिवशक्तिविचित्रनाथः।
अन्येऽपि धर्मशिववामनकोद्भट्टश्रीभूतेशभास्करमुखप्रमुखा महान्तः।। – तं० आ०, आह्० 37, श्लो० 62

यो मेलने कवचन देशिकयोनिनीनाम्, अद्य प्रभूत्यखिल खष गुरुक्रमोधः
2. त्वय्येव संकमित इत्युपलालितो भूत, तस्मै नमोभिनवगुप्तगुरुतमाय।। – गु० परा०, श्लो०7

3. सिद्धान्तवामभैखयामलकौलत्रिकैकवीरविद्वाम्। अभिनवगुप्तः श्रीमानाचार्यनपदेस्थितो जयति।। – गु० परा, श्लो० 21

4. श्रीकण्ठं वसुमन्तं (वसुगुप्तं) सोमानन्द तथोत्पलाचार्यम्। लक्ष्मणमभिनवगुप्त बन्दें श्री क्षेमराजं च।। – शा० ति० टी०, श्लो० 3, पृ० 7

5. प्रवरपुरनामधेये पुरे पूर्वे काश्मीरिकोऽभिनवगुप्तः। मालिन्यादिमवाक्ये श्रीमन्मालिन्यां यत्क्वचित्क्वचित्।। सच्छिष्यकर्णमन्द्राभ्याँ पुनः पुनः। वाक्यार्थकथये वात्तिकमेतद्रचयति स्म। – मा० वि० वा०, श्लो० 335

बहिर्मुखी प्रतिभा को एकाग्र करके पहले पढ़े-सुने शास्त्रों का आकलन किया और उनका सार निकाला एवं युक्ति एवं आगमसम्मत ढंग से निबन्धन करके 'तन्त्रालोक' की रचना की, जिससे साधारण जनता भी इससे लाभान्वित हो सके।[1] इन्होंने अपना आद्य गुरु श्रीकण्ठ को अर्थात् शिव को ही माना है। इनके शिष्य मधुराज को उस समय के आचार्यों ने श्रीकण्ठ का अवतार माना जाता था, क्योंकि वह बहुत छोटी आयु में ही रहस्य-ज्ञान के व्याख्याता बन गये थे।[2]

अभिनवगुप्त आचार्य एक बहुत बड़े शैवयोगी थे तथा आज भी उन्हें काश्मीर शैवदर्शन का सर्वोत्तम शैवाचार्य समझा जाता है। वे सर्वगुण सम्पन्न, सकल-शास्त्र-विशारद, अद्भुत-प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति थे, जिनका जीवन शिव-भक्ति से ओत-प्रोत था। इनका स्थितिकाल 900ई० और 1025 ई० पं० के बीच माना जाता है। इनके शिवधामगमन काल के सम्बन्ध में कहा जाता है कि श्रीनगर और गुलमर्ग के मध्य में एक भैरव-कन्द्रा है, जो अभी भी भैरव गाँव तथा भैरवनन्दी के पास स्थित है। यह उसी गुफा में अपने 1200 शिष्यों के साथ प्रविष्ट हुये थे और फिर कभी बाहर नहीं निकले। इस प्रकार उनका शिवधामगमन एक सिद्ध योगी के समान समाधि के प्रभाव से शिवमय हो जाना ही प्रतीत होता है।

---

1. इत्थं गृहे वत्सलिकावितीर्णे स्थितऽसमाधाय मतिं बहूनि। पूर्वश्रुतान्याकलयन् स्वबुद्ध्या शास्त्राणि तेभ्यः समवाप सारम्। स तन्निबन्धं विदधे महार्थं युक्त्यागमोदीरिततन्त्रतत्त्वम्। आलोकमासाद्य यदीयमेष लोकः सुखं संचारिता क्रियासु।। – तं० आ०, आह्० 37, श्लो० 82,83

2. जयत्यनर्धमहिमा विपशितपशुव्रजः। श्रीमानद्यगुरुः शम्भु श्रीकण्ठः परमेश्वरः।। – परा० त्रिं० वि० मं०, श्लो० 4

जिस प्रकार इन्होंने विभिन्न गुरुओं से भिन्न–भिन्न प्रकार की शिक्षा ग्रहण की थी, उसी प्रकार इनकी रचनाएँ भी विभिन्न प्रकार की हैं।

कृतियाँ – अभिनवभारती, अनुभवनिवेदन, अनुत्तराष्टिका, बोधपंचदशिका, कालिनीविजयवार्तिक, परात्रिंशिका, तन्त्रालोक, तन्त्रसार, तन्त्रवटधानिका, ध्वन्यालोकलोचन, भगवद्गीतार्थसंग्रह, परमार्थसार, प्रत्यभिज्ञाविर्शिनी, पर्यन्तपंचाशिकाघटकर्पाकुलकविवृत्ति, क्रमस्तोत्र, देहस्थ देवता चक्रस्तोत्र, भैरवस्तोत्र, परमार्थ द्वादशिका, परमार्थचर्चा, महोपदेशविंशतिक, रहस्य पंचदशिका, तन्त्रोच्चय, पुरूरवो विचार, क्रमकेलि, शिवदृष्टयालोचन, पूर्व–पंचिका, पदार्थ प्रवेश निर्णय टीका, प्रकीर्णक विवरण, प्रकीर्णक विवरण,काव्य कौतूक विवरण, कथामुख तिलक, लाध्वी प्रक्रिया, भेदवाद विदारण, देवीस्तोत्रविवृत्ति, अनुत्तरत्त्व विमर्शिनीवृत्ति, नाट्यलोचन, नाट्यलोचन, अनुत्तरशतक, परमार्थ संग्रह, बिम्बप्रतिबम्बवाद, शिवशक्त्यविनाभावस्तोत्र, तत्त्वाध्वप्रकाशिका, ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृत्तिविमर्शिनी, सिद्धित्रयी टीका।

इन कृतियों में से तन्त्रालोक शैव दर्शन का शैवकौष माना जाता है।

क्षेमराज

काश्मीर अद्वैत शैवदर्शन में राजानक क्षेमराज एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। क्षेमराज अपने समय के प्रकाण्ड पण्डित थे, इस तथ्य की पुष्टि उनके द्वारा की गई अनेक ग्रन्थों की वृत्तियों, स्वरचित मौलिक ग्रन्थों और कुछ ग्रन्थों के मूल पाठों सम्बन्धी वेषणा से होती है। यह महान् आचार्य

अभिनवगुप्त के शिष्य थे।[1] इनके जीवन और वंश-परम्परा के विषय में इनकी किसी भी कृति में कोई जानकारी उपलब्ध नहीं होती है। इसका एक कारण तो इनकी शिवभक्ति में संलग्नता भी हो सकती है। शिवभक्ति में अत्यन्त आस्था रखने के कारण तथा शिवभक्ति में ही लीन रहने के कारण इन्होंने सांसारिक सम्बन्धों के विषय में कुछ नहीं लिखा तथा दूसरा कारण यह हो सकता है कि इनकी वंशावली भी वही थी, जो अभिनवगुप्त की थी और जिसका विस्तृत-विवेचन अभिनवगुप्त ने तन्त्रालोक इत्यादि में किया है। अपनी विद्वत्ता, योग्यता और शिवभक्ति में संलग्नता के प्रभाव से ही यह अभिनवगुप्त के उत्तराधिकारी और त्र्यम्बक मठिका के गुरुपद से सुशोभित हुये थे।[2] इनके योग्य शिष्यों में योगराज और वरदराज का नाम मुख्य रूप से आता है। क्षेमराज ने अपने एक शिष्य “शूर” का भी नाम लिखा है, जिसकी प्रार्थना पर इन्होंने ‘स्पन्दनिर्णय’ की रचना की थी।[3] क्षेमराज के शिष्य भी इनके ही समान गुणवान् तथा विद्वान् थे। इन्होंने क्रम, कौल और प्रत्यभिज्ञाशास्त्र पर अपने गुरु आचार्य अभिनवगुप्त की भाँति मौलिक प्रवृति की रचनाएँ लिखी हैं, जिससे यह पता चलता है कि यह एक सफल रचनाकार होने के साथ-साथ एक उत्कृष्ट भाष्यकार भी थे। इन्हें अपने गुरु की भाँति ही सभी धर्मों, मतों और आचार्यों की शिक्षाओं का पूर्ण ज्ञान था। अद्वैतशैवदर्शन में पूर्ण आस्था रखने के साथ-साथ वे दूसरे धर्मों के प्रति भी समदृष्टिकोण रखते थे और केवल उनके

---

1. कृतिस्तत्रभवन्महामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीमदभिनवगुप्तपादपद्मोपजीविनः श्रीमतो राजानक क्षेमराजाचार्यस्य।। - प्र० हृ०, अन्ते।
2. श्रीकण्ठं वसुमन्तं (वसुगुप्तं) सोमानन्दं तथोत्पलाचार्यम्। लक्ष्मणमभिनवगुप्तं वन्दे श्रीक्षेमराजं च।। - शा० ति० टी०, श्लो० 3, पृ० 7
3. निर्णीतं क्षेमराजेन स्फारान्निजगुरोर्गुरोः। शूरनाम्नः स्वशिष्यस्य प्रार्थनातिरसेन तत्।। - स्प० नि० श्लो० 4, पृ० 77

अमान्य सिद्धान्तों का ही खण्डन करते थे। इनके मत में केवल अद्वैतशैवदर्शन ही पूर्ण दर्शन है अर्थात् इसके द्वारा आत्मा के यथार्थ ज्ञान का शीघ्र ही आविर्भाव होता है। दूसरे चार्वाक आदि अन्य दर्शन साधक को निम्नस्तर से उच्चस्तर तक पहुँचाने वाले विविध विश्रान्ति स्थल हैं। राजानक क्षेमराज की कृतियाँ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मानी जाती हैं, क्योंकि उन्होंने जो कुछ भी लिखा आत्मानुभूति तथा शास्त्रज्ञान के आधार पर लिखा। यह यद्यपि शिव की उत्कृष्टता स्वीकार करते हैं, तथापि शक्ति को शिव से अभिन्न मानते हुए पराशक्ति की स्वातन्त्र्य महिमा को स्वीकार करते हैं। ऐसा इनकी कृतियों में देखने को मिलता है।[1] इनके अनुसार विश्वमय और विश्वोत्तीर्ण रूप का पूर्ण ज्ञान केवल परशक्तिपात से ही होता है। इन्होंने तन्त्रों की भी अद्वैतपरक व्याख्या की है। साहित्य में इनकी रुचि नहीं दिखाई देती है, जिसका मुख्य कारण शिव रस में रसित रहना ही है।

राजानक क्षेमराज ने अपनी रचनाओं में कहीं भी अपने स्थितिकाल सम्बन्धी उल्लेख नहीं किया है। फिर भी इनके गुरु अभिनवगुप्त के समयानुसार इनका स्थिति 925-1025 ई० प० के समीप अनुमानित किया जा सकता है।

कृतियाँ – प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, बोधविलास, शिवसूत्रविमर्शिनी, स्वच्छन्दनय, स्वच्छन्दोद्योत, नेत्रोद्योत, विज्ञानभैरवविवृत्ति, भैरवानुकरणस्तोत्र, स्तवचिन्तामणि टीका, उत्पलस्तोत्रावलीटीका, स्पन्दनिर्णय, स्तोत्र, स्पन्दनिलय, स्पन्दसन्दोह,

1.
(क) चितिः स्वतन्त्रा विश्वसिद्धिहेतुः।। – प्र० हृ०, सू० 1
(ख) देहप्राणसुखादिभिः प्रतिकलं संरुध्यमानो जनः। पूर्णानन्दधनामिमां न चिनुते माहेश्वरीं स्व चितिम्। मध्येबोधक्षुधाब्धिविश्वमभितस्तत्फेनपिण्डोपमं। यः पश्येदुपदेशतस्तु कथितः साक्षात्स एकः शिवः।। –प्र० हृ०, पृ० 92

ध्वन्यालोकलोचनोद्योत, क्रमस्तोत्रटीका, वामोदय, पराप्रावेशिका, साम्बपंचाशिकाविवरण, षट्त्रिंशत्तत्त्वसन्दोह, परमार्थसंग्रहविवृति।

वरदराज

शिवसूत्रों के प्रसिद्ध टीकाकारों में वरदराज का अपना एक विशिष्ट स्थान है। अन्य आचार्यों की तरह इन्होंने भी अपनी जीवनी के विषय में अधिक जानकारी नहीं दी है। गुरुनाथ परामर्श के कर्त्ता मधुराज योगिन के पिता माने जाते हैं।

वरदराज का जन्मस्थान दक्षिण भारत में स्थित केरल राज्य के मधुरा (मधुराई) नामक स्थान माना जाता है। क्षेमराज के मुख्य शिष्यों में वरदराज की गणना की जाती है। इन्होंने अपने गुरु क्षेमराज के मुख से शिवसूत्रों का ज्ञान श्रवण किया तथा इसी ज्ञान को जनमानस तक पहुँचाने के लिए सरल भाष्य में 'शिवसूत्रवार्त्तिक' नामक वृत्ति की रचना की।[1]

शिवसूत्रवार्तिक वरदराज की एक ऐसी कृति है, जिसके द्वारा वरदराज की ख्याति चारों दिशाओं में फैल गई। यह एक पद्यबद्ध रचना है और इसमें कुल 3958 श्लोक हैं। प्रारम्भ के सात श्लोकों में शिवसूत्रवार्तिक लिखने का उद्देश्य वर्णित है। शाम्भवोपाय एवं शाक्तोपाय की इस कृति में विस्तृत व्याख्या की गई है।

वरदराज की एक और रचना 'लघुवृत्ति विमर्शिनी' के नाम से विख्यात है। वरदराज ने भी क्षेमराज के ही समान तीनों अवस्थाओं की लौकिक एवं योगी के दृष्टिकोण से सविस्तार व्याख्या की है।

1. श्रीमत्क्षेमराजमुरतोद्गताम – सद्वृत्तिमञ्जसा क्रियते मया वार्तिकं शिवसूत्रानाम्। शि० सू० वा०, श्लो० 5

वरदराज का वार्तिक शिवसूत्रों का एक टीका ग्रन्थ है, जिसमें शिव द्वारा प्रोक्त सूत्रों की व्याख्या हुई है। इस वार्तिक में माया के व्यामोह को हटाने के लिए क्षेमराज के निर्णीत व्याख्यानों के ही अनुकूल व्याख्या है।[1] इस प्रकार वरदराज का योगदान काश्मीर शैवदर्शन के लिए बहुत ही अनमोल है। कश्मीर के निवासी न होते हुए भी इन्होंने इस शास्त्र के प्रचार और प्रसार के लिए बहुत ही प्रयास किए।

आचार्य योगराज

शैवशास्त्र के विद्वानों में आचार्य योगराज एक महान् दार्शनिक माने जाते हैं। इनकी जीवनी के विषय में अधिक जानकारी उपलब्ध नहीं है, किन्तु योगराज ने अपने जीवनवृत्त के विषय में अपने ग्रन्थ की पुष्पिका के अन्त में थोड़ी-सी जानकारी दी है। छोटी सी अवस्था में योगराज के माता पिता का देहान्त हो गया था। अतः माता पिता विहीन हो जाने के कारण आचार्य योगराज विरक्त हो गए। अतः विरक्त की भावना से ओतप्रोत होने के कारण वे तपस्वी हो गए और विवाह संस्कार आदि के प्रति इनकी रुचि ही नहीं रही।[2]

आचार्य योगराज ने आचार्य क्षेमराज से गुरु दीक्षा प्राप्त की थी। अभिनवगुप्त की एक रचना 'परमार्थसार' पर आचार्य योगराज ने एक टीका लिखी है। इस टीका के अतिरिक्त इनके द्वारा रचित किसी अन्य रचना का उल्लेख नहीं मिलता है। इनका स्थितिकाल आचार्य क्षेमराज के स्थितिकाल के आसपास ही माना जाता है। इनके निवास स्थल के सम्बन्ध में भी कुछ

1. मायामोहापसारकम् श्रीक्षेमराज निर्णीतव्याख्यानाध्वानुसारिणा – व्यञ्जितं
– शि० सू० वा०, श्लो० 214-15
2. श्रीमतः क्षेमराजस्य सद्गुर्वाम्नायशालिनः। साक्षात्कृतमहेशस्य तस्यान्ते वासिनामया।। श्री वितस्ततापरीधाम्ना विरक्तेन् तपस्विना। विवृतियोगनाम्नयेयं पूर्णाद्वयमयी कृता।। प० सा०

निश्चित् रूप से नहीं कहा जा सकता, लेकिन इनकी रचना के श्लोकों से ज्ञात होता है कि जब इन्होंने अभिनवकृत परमार्थसार का टीकाकरण किया उस समय वह वितस्ता (झेलम) नदी के आस पास एक सन्यासी के रूप में जीवनयापन कर रहे थे। इस विवृति में आचार्य योगराज ने शैवदर्शन के उद्धरणों के अतिरिक्त श्रीमद्भागवत् गीता और उपनिषद् के भी उद्धरण दिए हैं। इतना ही नहीं अपितु इन्होंने बौद्ध ब्रह्मवादी वैशेषिक आदि के मतों का भी इस रचना में उल्लेख किया है।

मधुयोगिन :–

मधुराजयोगिन काश्मीर शैव दर्शन के न केवल प्रकाण्ड
विद्वान् एवं बहुमुखी प्रतिभासम्पन्न महान् व्यक्तित्व ही थे, अपितु
उत्कट सिद्ध, साधक और योगी भी थे। अपनी रचना
'स्वात्मपरामर्श' में उन्होंने स्वयं को मधुर[1], मधुराज कवि[2] और
मधुराजयोगिन संज्ञित किया है।[3] उनका पूर्व नाम भट्टकृष्ण था
और उस समय की प्रचलित प्रथा के अनुसार संन्यास ग्रहण के
समय उपर्युक्त नाम रखे गए थे।[4] एक बात तो निस्संदिग्ध रूप
से कही जा सकती है कि यह "भट्ट" संज्ञक कश्मीरी ब्राह्मणों
की उच्च उपजाति से सम्बधित थे। यद्यपि इन्होंने अपने
जन्म-क्षेत्र विशेष का परिचय नहीं दिया है, तथापि इनकी जाति
एवं कार्य क्षेत्र विशेष रूप से कश्मीर ही होने से यह कहा जा
सकता है कि इन्होंने कश्मीर भू को ही अपने जन्म से अलंकृत

---

1. विस्तीर्णसद्गुरुपदस्मरणप्लवेन निस्तीर्णभीमतरभैरवधीप्रवाहः।
अद्याष्टसप्ततितमे वयसीह वर्ते वाचा सुधारसमुचा सह माधुरोऽहम्।।
2. स्वा० परा०, 6
3. तदेव 14
4. तदेव 9
त्र्यम्बककृपा .... वितृष्ण इव भूतले चरति भट्टकृष्णः कृती।। तदेव 13

किया था। इनके पूर्वज माता-पिता तथा सगे-सम्बन्धी भी कश्मीर धरा से ही सम्बन्धित थे। इसलिए इनका बाल्य काल एवं विद्या-अध्यन इत्यादि भी यहीं पर हुआ था। इनके माता-पिता एवं पूर्वज बहुत पढ़े लिखे एवं विद्वान् थे। इसीलिए इनको विद्याभ्यास परम्परा से धरोहर रूप में मिला था।[1]

यद्यपि मधुराजयोगिन ने अपने जन्म-काल के सम्बन्ध में स्पष्ट निर्देश नहीं दिया है, तथापि रचना में एक स्थान पर इन्होंने उस समय की प्रचलित समय को संकेतित करने की कश्मीरी प्रथा अनुसार कहा है – ''सिद्ध विशाखकृपामृतवर्षे'' – कि वह 4167 कलि सम्वत् में 80 वर्ष की आयु के थे। यदि ज्योतिष की काल कलना की प्रथा अनुसार उक्त श्लोक में एक एक शब्द का विमर्श करें तब ''सिद्ध'' शब्द सात (7) के लिए (क्योंकि शैव दर्शन में सिद्धि प्राप्ति के लिए सात साधन बताए गए हैं), ''विशाख'' छः (6) के लिए (क्योंकि स्वामी कार्तिक के छः मुख थे) ''कृपा'' के लिए एक (1) और ''अमृत'' के लिए चार (4) (क्योंकि अमृत के चार रूप बताए गए हैं) शब्द का प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार 4167 कालीन कलि सं० 4087 बनता है। इससे तात्पर्य है कि इनका जन्म 986 ई० प० में हुआ। जिस समय इनके गुरू अभिनवगुप्त ने क्षेमेन्द्र को ईश्वरप्रत्यभिज्ञा विवृतिविमर्शिनी का उपदेश दिया उस समय इनकी आयु 28 वर्ष की थी और उस समय कलि सं० 4115 (1014-15 ई० प०) था।[2]

मधुराजयोगी ने स्वयं को अभिनवगुप्त आचार्य का परमभक्त बतलाया है। उपर्युक्त तथ्यों से यह भी स्पष्ट है कि

1. ''पाण्डित्यं नः परम्परायातम्'' स्वा० परा० 33
2. द्रष्टव्य स्वा० परा० 7

अभिनवगुप्त को सभी धर्मों के आचार्यों के सम्मेलन में उनका सर्वधर्माचार्य चुना जाना इन्होंने अपनी आँखों से देखा है। इस तथ्य का उल्लेख उन्होंने गुरुनाथ परामर्श और ध्यानश्लोका में किया है। ध्यानश्लोका में जिस प्रकार से इन्होंने अभिनवगुप्त की विद्वत्ता, आध्यात्मिकता और आकर्षक सुन्दर शारीरिक संरचना का चित्रण किया है, उससे यह स्पष्ट है कि यह उनके प्रति अगाध श्रद्धा एवं भक्ति रखते थे।[1]

इन्होंने शिवयोगिन बनने का दिन रविवार बतलाया है जिस दिन ज्येष्ठ मास की शुक्ल पक्ष की त्रयोदशी तिथि को विशाखा नक्षत्र था। अपनी आयु के इन अन्तिम वर्षों में यह विरोधी पक्ष वालों की मान्यताओं के खण्डन और अपने शैव सिद्धान्त के मण्डन में पूर्ण समर्थ थे। इनकी स्मृति इतनी स्पष्ट और शुद्ध थी कि 74 वर्ष की आयु में भी इनको अपने बचपन में अपने पिता द्वारा पढ़ाई हुई शिक्षा सब याद थी।

भगवान् शिव के साथ ऐकात्म्य की अनुभूति के समय यह 80 वर्ष के थे, जिस समय 1066 ई सं० चल रहा था। इतनी अधिक आयु की अवस्था में भी यह शैव सिद्धान्तपरक कविताएं लिख रहे थे और अपने सिद्धान्त की रहस्यमयी गुत्थियों को सुलझा रहे थे। इस अवस्था में इनके पास केवल चार वस्तुएं थीं हस्तछड़ी, कछुए की खोपड़ी का भिक्षा-पात्र, कमण्डल और फटा-पुराना चोला। इन्होंने अपने समस्त शरीर पर भस्म रमाई होती थी। प्रायः यह नंगे पाँव ही चलते थे परन्तु कभी-कभी बहुत गर्म क्षेत्रों में जूते पहन लेते थे और चटाई का छाता ओढ़ लेते थे। इन्होंने कपड़े का कमरबन्ध पहना होता था और एक पाण्डुलिपि, भस्म और कपड़े का टुकड़ा साथ रखते थे जिसको

1. गु० ना० 7 एवं ध्या० श्लो०

वह अपनी पीठ पर रखे होते थे तथा पूजा के समय घुटनों के नीचे रखे होते थे।

इन्होंने कश्मीर के विविध तीर्थ स्थलों के अतिरिक्त दूर देश-देशान्तर की भी यात्रा की थी, जिनमें से मथुरा, मालव, बंग, लाट, गौड़ आदि के स्थल प्रमुख थे। समय की आवश्यकता के अनुसार यह घास, चने अथवा टूटे हुए चावल पर ही निर्वाह कर लेते थे। निन्दा अथवा स्तुति से उदासीन थे।[1]

यह बहुत अच्छे अध्येता थे। इन्होंने द्वैत शैवपरक लगभग दो लाख और शैव अद्वैत विषयक एक लाख ग्रन्थ पढ़े थे। 80 वर्ष की आयु में भी यह प्रभावशाली अध्येता थे। इस स्वाध्याय की लग्न इनको वंशक्रम से प्राप्त हुई थी। इसीलिए यह यजुर्वेद और उसकी शाखाओं, मन्त्र-तन्त्र और परम अद्वैत दर्शन में सम्यक् निष्णात थे।[2] यह बहुत सी कलाओं में निपुण थे। इन्होंने हजारों श्लोक और बहुत से गद्यात्मक ग्रन्थ लिखे, जिनकी सहृदयजनों ने अतीव प्रशंसा की। इनको वीर मत भी पसन्द था। यह परमशैव भक्त दीर्घजीवी थे।

कृतियाँ - इनके अपने कथनानुसार बहुत सी पद्य एवं गद्यात्मक पाण्डियपूर्वक रचनाएँ इन द्वारा लिखी गई जिनमें से चार प्रमुख हैं-

1. स्वात्मपरामर्श।
2. गुरुनाथपरामर्श।
3. ध्यानश्लोकाः।

---

1. मधुमालववङ्ग लाटगौड़ानपरानप्यखिलान पूर्वदेशान्। .... दुर्जनगर्जनभीत्या निर्जनदेशे समासीय।। स्वा० परा० 24-27
2. "द्वैते लक्षाद्वयाध्यायी योऽद्वैते लक्षपाठकः .... परमाद्वैतपथेऽपि च पाण्डित्यं नः परम्परायातम्।" स्वा० परा० 31-33

4. शास्त्रपरामर्श।

जयरथ – काश्मीर शैव दर्शन के सिद्धान्तों के सम्यक् अवलोकन एवं विमर्शन हेतु जयरथ के महान् योगदान की जितनी प्रशंसा की जाए उतनी ही कम है। महान् शैवाचार्य अभिनवगुप्त की महान् एवं अद्वितीय विश्वकोषरूप शैवदर्शनपरक रचना "तन्त्रालोक" पर यदि इन्होंने विवेक न लिखा होता तो इस रहस्य व पवित्र सम्प्रदाय की बहुत–सी आध्यात्मिक पहेलियां अनसुलझी ही रह जातीं।

इस महान् विद्वान् का जन्म कश्मीर के राजा राजराज के शासनकाल के आस–पास कश्मीर में हुआ। इनके पिता का नाम श्रृंगाररथ था जो बहुत प्रतिभावान् एवं गुणी थे और महाराज राजराज के मंत्री थे।[1] इनके छोटे भाई का नाम जयद्रथ था, जो इनके समान ही बहुत गुणवान् थे।[2] इन्होंने अपने वंश क्रम का उल्लेख पूर्णमनोरथ के काल से किया है जो कश्मीर के राजा यशस्कर (939–948 ई० प०) का मंत्री था। इन्होंने अपने पूर्वज पूर्णमनोरथ और अपने मध्य आठ पीढ़ियों का उल्लेख किया है – पूर्णमनोरथ, उत्पलरथ–I, प्रकाशरथ, सूर्यरथ, उत्पलरथ–II, समरथ, गुणरथ, गुंगरथ, श्रृंगाररथ और जयरथ। इन पूर्वजों में से पूर्णमनोरथ के अतिरिक्त पांचवें पूर्वज उत्पलरथ–II का समय भी कश्मीर नरेश अनन्त (1023–63 ई० प०) समकालीन होने से ज्ञात है अतएव यदि भारतीय परम्परा अनुसार प्रत्येक पीढ़ी की

---

1. तया स शृङ्गाररथाभिधानो बालो विवृद्धिं गमितो जनन्या।
सत्यारथ्यां ख्यातगुणः क्रमेण श्रीराजराजः सचिवं व्यधात्तम्।।
तं० आ० वि० 12/434
2. "जगत्स्थजयद्रथाख्यौ सकलजनानन्दकौ समगुणर्द्धी" तदेव 432

25 वर्ष गणना की जाए तो जयरथ का समय लगभग 12 वीं शताब्दी का अन्त और 13 वीं का आरम्भिक काल बनता है।

जयरथ की कुल और क्रम शैवदर्शन में दीक्षा सुभट्ट दत्त ने की थी, जो कश्मीर नरेश राजराज का गुरू भी था। सुभट्ट दत्त के पिता का नाम त्रिभुवन दत्त और दादा का विश्वदत्त था।[1] इनके शैव दर्शन में गुरू का नाम कल्याण था[2] और इसी प्रकार दूसरी शाखाओं में शंखधर गुरू थे।[3] यह बहुत बड़े साधक, बहुमुखी व्यक्तित्व सम्पन्न जीवन्मुक्त थे।

कृतियाँ – इन्होंने शैव दर्शन और काव्य शास्त्र – दोनों पर रचनाएँ लिखीं जिनमें से ज्ञात प्रमुख तीन रचनाएँ हैं

1. तन्त्रालोक विवेक
2. अलंकारविमर्शिनी
3. अलंकारोदाहरण

भट्टानन्द :– काश्मीर शैव दर्शन के प्रसिद्ध और प्रकाण्ड विद्वानों के सम्बन्ध में कुछ एक को छोड़कर, पर्याप्त जानकारी नहीं मिलती है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह विद्वान् केवल लोक कल्याण के लिए ही लिखते थे इनकी कोई निजी स्वार्थपरक, धनपरक अथवा ख्यातिपरक इच्छा नहीं थी। ये स्वयं साधक होने के साथ-साथ परमार्थ तत्त्व के अनुभावक भी होते थे। भट्टानन्द भी इन अमूल्य विद्वद् रत्नों में से एक थे।

1. श्रीविश्वदत्तपौत्रः त्रिभुवनदत्तात्मजः कुलक्रमतः।
   श्रीसुभट्टदत्त आसीत् अस्य गुरुर्यो ममाप्यकृत दीक्षाम्।। तं० आ० वि० 12/433
2. ''शिवाद्वैतज्ञप्ति .... गुरुं श्रीकल्याणाभिधम'' तदेव 430
3. ''तस्मा च्छ्रीशंखधरादवाप्तविद्या'' तदेव 431

भट्टानन्द एक कश्मीरी ब्राह्मण थे एवं कश्मीर प्रदेश के निवासी थे।[1] कश्मीरी सम्प्रदाय में 'भट्ट' एक उपजाति का भी संकेतक शब्द है और प्रकाण्ड विद्वान् के लिए भी यह उपाधि का प्रतीक है। भट्टानन्द के लिए दोनों प्रकार से यह उपाधि सार्थक प्रतीत होती है।

यद्यपि उपलब्ध जानकारी के अनुसार इनके माता–पिता अथवा गुरूवर का उल्लेख प्राप्त नहीं हुआ है, तथापि इनकी अमूल्य 'विज्ञानभैरव' पर विज्ञानकौमुदी संज्ञक दीपिका सहित व्याख्या वाली कृति के मंगलाचरण में प्रदत्त स्तुतिपरक जानकारी से यह पता चलता है कि यह त्रिक सम्प्रदाय के आगमों एवं प्रत्यभिज्ञा सिद्धान्त में विशेष महार्थ रखते थे।

गुरूवरों के उल्लेख के प्रसंग में सर्वप्रथम श्री विद्या का उल्लेख है,[2] इसी प्रकार रचना के अन्त में भी श्रीविद्या के प्रति आदर भाव दिखाना यह सिद्ध करता है कि यह श्री विद्या के उत्कट साधक थे। इन्होंने स्पष्टतःस्वीकार किय है कि 'त्रिक' आगमों का विस्तृत ज्ञान एवं उनके गुढ़ अर्थ की अनुभूति भगवती श्री विद्या के अनुग्रह से ही हुई थी।[3] इसी ज्ञान के आधार पर इन्होंने विज्ञानभैरव के गूढ़ अर्थ को सार के रूप में अज्ञान–अन्धकार के नाश के लिए लिखा था।[4]

श्रीविद्या के पश्चात् इन्होंने श्रीकण्ठमूर्ति महेश का स्मरण करते हुए सिद्ध सोमानन्द, भूतिराज, उत्पलाचार्य, श्रीलक्ष्मणगुप्त और अभिनवगुप्त आदि प्रमुख त्रिकार्थ मर्मज्ञ गुरूजनों के प्रति

---

1. ''श्रीमत्पण्डितानन्दभट्टविरचित'' का० सं० ग्र०, ग्र० अं० 9
2. ''श्रीविद्यां .... शोभन्तेऽनिऽशं सत्सदःसु'' वि० भै० मं० श्लो 1,2
3. श्रीविद्यानुग्रहावाप्तप्रेक्षालेशस्त्रिकागमान्।
   आलोडयालोच्य तत्तत्त्वसंग्रहार्थ सुविस्तृतम्।। वि० भै० पू० श्लो० 1
4. विज्ञानभैरवे गूढपथे पदप्रबोधिनीम्।
   दुर्ध्वान्तभवदुःश्वभ्रविभ्रंशात्पालनोदिताम्।। तदेव श्लो० 2

परम आदर अभिव्यक्त करते हुए बतलाया है कि इनका अवतरण मर्त्यलोक में शैव आगमों के काल के प्रभाव से लुप्त होने पर पुनः उद्धार के लिए हुआ।[1]

भट्टानन्द विद्वान्, कृतज्ञ, धार्मिक, तत्त्वज्ञानी होते हुए भी पूर्ण विनम्र और शालीन एवं सहृदय व्यक्तित्व थे। इस तथ्य का प्रमाण उनके इस कथन से होता है जिसमें उन्होंने कहा है कि इन गुरूजन महानुभावों के चरण–कमल की रज का बार–बार नाम स्मरण करने से मेरे मन, वाणी और काय के अज्ञानमल की मलिनता दूर हो जाने से इस प्रकार चित्तदर्पण के शुद्ध हो जाने से परमार्थ तत्त्व का अनुभव मुझ जैसे को भी हो गया जिसके आवेश से आप्लावित होकर मैं हमेशा विद्वज्जनों की सभाओं में सुशोभित हो सका।[2] इससे यह भी सिद्ध होता है कि इनके समय में विविध धर्म एवं मतावलम्वियों की संगोष्ठियां हुआ करती थीं, जिसमें सभी अपने–अपने मत की पुष्टि करने के लिए विचार विमर्श करते थे। गुरूपदेश एवं शास्त्रज्ञान के बल पर भट्टानन्द इन सभाओं में अपने मत की पुष्टि करने में सफल होकर परमसत्कार के पात्र बनते थे। अर्थात् इनकी उपस्थिति सभा की शोभा को बढ़ाने वाली मानी जाती थी।

यह सर्वतोमुखी प्रतिभा सम्पन्न और नाना शास्त्रों के ज्ञानी थे। इस बात की पुष्टि इस तथ्य से होती है कि इनकी ज्ञात रचना 'विज्ञानभैरवकौमुदी'' में न केवल अपने मत की पुष्टि के

---

1. श्रीविद्यां श्रीकण्ठमूर्ति महेशं सोमानन्दं भूतिराजोत्पलेशौ।
कालेनास्तंयातशैवागमानां प्रोद्धृत्यै ये मर्त्यलोकेऽवतीर्णाः।।
.... श्रीलक्ष्मणाभिनवगुप्तमुखांस्त्रिकार्थ
तत्त्वानुशासनमहाम्बुधिशीतरश्मीन्। ध्यात्वा गुरून् .....
...........।। तदेव, मं० श्लो० 1,3

2. नामं नामं तत्पादाम्भोजरेणुं वाक्कायान्तर्वृत्तिभिर्नुत्तपङ्के।
चित्तादर्शे मादृशा दृष्टतत्त्वावेशाः शोभन्तेऽनिशं सत्सदःसु।।
– वि० भै०, मं० श्लो० 2

लिए शैवशास्त्रों से उद्धृत किया गया है, अपितु गीता, स्मृति, श्रुति वाक्यपदीय आदि सत् शास्त्रों से भी पर्याप्त समर्थित किया गया है।

इनके स्थितिकाल के विषय में विज्ञानभैरव पर लिखी गई इनकी कौमुदी टीका की पुष्पिका में प्रदत्त सूचना से स्पष्ट अनुमान लगाया जा सकता है। तदनुसार टीका की समाप्ति के समय चैत्र शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा तिथि तथा कलिसम्वत् 4774 बनता है, जिसके अनुसार उस समय ई० सम्वत् 1673 था। स्वाभाविक रूप से यदि इनका लेखन कार्य 30,35 वर्ष की आयु से आरम्भ माना जाए, तो इनका जन्म लगभग 1640 ई० प० के आस-पास बनता है। अतएव निस्संदिग्ध रूप से इनका स्थिति काल 17 वीं शताब्दी का मध्य काल माना जाना चाहिए।[1]

शिवोपाध्याय :-

शिवोपाध्याय अपने नाम के अनुरूप ही शिव में लीन स्वभाव के थे। यह भी भट्टानन्द की तरह कश्मीरी ब्राह्मण थे और कश्मीर के ही मूलतः निवासी थे। इन्होंने भी अपने जीवन, शिक्षा-दीक्षा अथवा माता-पिता की वंश परम्परा के सम्बन्ध में स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है। ऐसा लगता है कि प्रायः अद्वैत शैवी साधक कामिनी, काञ्चन और कीर्ति इत्यादि बाह्य आडम्बर में रुची नहीं रखते थे। इनका मुख्य लक्ष्य अन्तर्मुखी भाव में रहते हुए आत्मा-परमात्मा का चिन्तन-मनन, योग साधना और शैवागमों का स्वाध्याय था। इसके अतिरिक्त यह श्रुति, स्मृति,

1. वेदसप्तर्षिवेदान्त्ययुगाब्दमधुपक्षतौ। विज्ञानकौमुदीमेतां भट्टानन्दो व्यकासयत्।।
वि० भै०, पु० श्लो० 3

गीता, पुराण, इतिहास आदि एवं अन्य मतों के सिद्धान्तों का भी विमर्शन करते थे ताकि लोक-कल्यान हेतु स्वमत मण्डन हेतु दूसरे मत का खण्डण करने के लिए विस्तृत जानकारी प्राप्त कर सकें।

शिवोपाध्याय भी ऐसे अग्रगण्य शैवी साधकों और शास्त्र विशारदों में से एक थे। इन्होंने विज्ञान भैरव की विवृति की पुष्पिका में बतलाया है कि इनका गोत्र 'कौशिक' और जाति 'उपाध्याय' थी जो इस बात का प्रतीक है कि यह शिक्षित और विद्याअध्यनशील कुल परम्परा से सम्बन्धित थे। क्योंकि प्रायः 'उपाध्याय' उस कुल परम्परा से सम्बन्धित जातिवाचक शब्द है, जो पढ़ने पढ़ाने याज्ञिक एवं धार्मिक कर्मकाण्ड कराने में निपुण होते हैं। इनका मूल नाम "शिव" था और उपाध्याय जाति से सम्बन्धित होने के कारण इनको 'शिवोपाध्याय' के नाम से प्रसिद्धी प्राप्त थी।[1]

गुरू परम्परा के सम्बन्ध में इस रचना की पुष्पिका में अपने गुरु के प्रति परम आदर अभिव्यक्त किया है, उससे पता चलता है कि वह अतिउत्कट विद्वान्, शास्त्र मर्मज्ञ और परमार्थ ज्ञान के अनुभावक थे। बड़े आदर से उनका नाम लेते हुए स्वयं को उनके चरण कमल की रज का आश्रित किंवा अपना जीवन आधार बतलाया है। गुरू का नाम भी बड़े रहस्यात्मक ढंग से "श्रीमद्गोविन्दगुरुसुन्दरकण्ठ" प्रस्तुत किया है जो पाठक अथवा श्रावक को उनकी विविध विभूतियों अथवा ऐश्वर्यों का सम्भावित परिचय करा देता है।[2]

1. नाम्ना शिवेतिगुणि कौशिकगोत्रजात्योपाध्यायशब्दयुताप्युप्लक्षितेन।। वि० भै० पू० श्लो० 4
2. "कृतिः श्रीमद्गोविन्दगुरुसुन्दरकण्ठपादपद्मानुजीविनः शिवोपाध्यायस्य इति शिवम्।।" वि० भै० पू० श्लो० 6

यद्यपि अपने स्थितिकाल के सम्बन्ध में इन्होंने किसी समय विशेष का उल्लेख नहीं किया है तथापि पुष्पिका में प्रदत्त संकेत के अनुसार ''विज्ञानभैरव'' पर अपनी टीका समाप्ति का समय तत्कालीन कश्मीर भू-मण्डल के राजा सुखजीवन के समय से सम्बन्धित किया है। विद्वानों अनुसार उनका समय 18वीं शताब्दी माना जाता है।[1]

शिवोपाध्याय न केवल मूल ग्रन्थकार थे अपितु निपुण टीकाकार भी थे। विज्ञानभैरव पर लिखी टीका से कोई भी व्यक्ति सहजतया अनुमान लगा सकता है कि उद्धृत अनेकविधशास्त्रों से यह सिद्ध हो जाता है कि यह सर्वतन्त्र स्वतन्त्र थे। इनको न केवल शैवागमों और इस परम्परा से सम्बन्धित शैवाचार्यों की प्रमुख रचनाओं का ही सार तत्त्व ज्ञात था, प्रत्युत् श्रुति, स्मृति, पुराण, इतिहास एवं अन्य सम्प्रदायों के मर्मतत्त्व का भी ज्ञान था।

यह बड़े विद्वान् होते हुए भी सरल हृदय एवं सत्यनिष्ठ व्यक्तित्व थे। व्याख्या करते समय यह निष्पक्षता और विषय के साथ न्यायशीलता का भी ध्यान रखते थे। इन्होंने विज्ञानभैरव की पुष्पिका में यह स्पष्ट कर दिया है कि इनसे पहले विज्ञानभैरव पर विद्योत संज्ञक टीका राजानक क्षेमराज ने बड़ी विद्वत्तापूर्ण लिखी थी, परन्तु खेद प्रकट करते हुए कहते हैं कि न जाने किन कारणों से वह लुप्त प्रायः हो गयी। इस कमी को पूरा करने के लिए इन्होंने राजानक क्षेमराज की 1 से 24 तक उपलब्ध धारणाओं की व्याख्या ज्यों की त्यों अपनी टीका के प्रारम्भ में रख दी और शेष धारणाओं का भरसक प्रयत्न पूर्वक

1. सुखजीवनाभिधाने रक्षति काश्मीरमण्डलं नृपतौ। वि० भै० पू० श्लो० 5
अगमत्रिः शेषत्वं विज्ञानोद्योतसंग्रहः सुगमः।।

क्षेमराज की व्याख्या के अनुकूल सार्थक टीका लिखने का प्रयास किया।[1]

शितिकण्ठ :–

काश्मीर शैव दर्शन की क्रम, कौल, प्रत्यभिज्ञा और स्पन्द शाखाओं में से क्रम मत अति प्राचीन माना जाता है। इस दर्शन के प्रकाशक शिवानन्द माने जाते हैं। जो विद्वानों के अनुसार सम्भवतया 7वीं शताब्दी के अन्त अथवा 8वीं शताब्दी प्रारम्भिक काल में कश्मीर में हुए। इनकी तीन सिद्ध योगिनी शिष्यायें – केयूरवती, मदनिका और कल्याणिका हुई। जयरथ अनुसार यह केयूरवती और चक्रभानु के मध्य में चौदह पीढ़ियाँ हुईं।[2] दूसरी और शितिकण्ठ आचार्य कहते हैं कि चक्रभानु, जिनके आठ शिष्य थे उनके पितामह गुरू थे। इनके आठ शिष्यों में से एक ईशाना थे, जो इनके गुरू थे।[3] इस प्रकार शिवानन्द और शितिकण्ठ के मध्य सोलह पीढ़ियों का अन्तर दिखाई देता है। भारतीय काल गणना की परम्परा अनुसार लगभग 400 वर्ष का अन्तर बनता है। अतएव शितिकण्ठ का सम्भावित समय लगभग 11 वीं शताब्दी का अन्त अथवा 12 वीं शताब्दी का आरम्भिक काल बनता है।

एक अन्य विवरण अनुसार व्याकरण के मर्मज्ञ और स्तुतिकुसमाञ्जलि के लेखक जगद्धर और शितिकण्ठ का मातृपक्ष

1. "विज्ञानतन्त्रविवृतिः कृतसंग्रहेयं वृत्तयन्तरात्कचिदपि स्वमतेर्विलासात्।"
   वि० भै० पू० श्लो० 5
2. श्रीकेयूरवतीतः प्रभृति चक्रभानुशिष्यान्तम्। सन्ततयोनयस्य प्रथिता इह षोडशैवेत्थम्।। तं० आ० आह० 4/195
3. यन्मध्याद्राज्ञी ईशानाख्या मदन्तं शिष्यौधाग्रणीर्भानुपादः अष्टानां शिष्याणां प्रभुः, पारम्पर्यनिदानम।। म० प्र०, पृ० 107

से चार पीढ़ियों का अन्तर था। अतः जगद्धर इनके परपितामह नाना थे।[1]

चूँकि महानयप्रकाश प्राचीन कश्मीरी भाषा में लिखा गया है, अतएव स्वाभाविक रूप से शितिकण्ठाचार्य कश्मीर के ही निवासी थे और जाति के ब्राह्मण थे।

शितिकण्ठाचार्य का ओड्डियान ओवल्ली से गुरु परम्परा अनुसार सम्बन्ध था। श्रीमन्मकारदेवी इस पीठ वर्ग की अधिष्ठात्री के अनुग्रह से श्रीज्ञाननेत्रनाथ ने अन्तःबाह्य आदि देवी के स्वरूप का जैसा साक्षत्कार किया, वैसा ही प्राणियों के कल्याण के लिए क्रम अथवा महार्थ के रूप में प्रकट किया। अतः स्पष्ट है कि शितिकण्ठाचार्य ने दैवीज्ञान सम्प्रदाय परम्परा से प्राप्त किया था। अतएव यह न केवल परमज्ञानी ही थे अपितु श्रेष्ठ साधक भी थे। इन्होंने अपनी रचनाओं में भिन्न-भिन्न शास्त्रों से उदधृत किया है, जिससे पता चलता है कि वह बहुविध शास्त्र विशारद भी थे। यही कारण है कि इन्होंने बहुत सी रचनाएँ लिखी। अतएव यह बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न महान् व्यक्तित्व थे।

कृतियाँ :–

1. महानयप्रकाश　　　2. स्तोत्रमाला
3. कौलसूत्र　　　4. न्यास

इन रचनाओं में से महानयप्रकाश क्रम दर्शन की महत्त्वपूर्ण रचना मानी जाती है।

---

1. श्रीबालबोधिन्यभिधां कवीन्द्रो जगद्धरो यः विततान् वृत्तिम्।
तन्नप्तृकन्यातन्यातनुजो व्याख्याम्यहं तां शितिकण्ठोऽल्पम्।।
स्तु० कु० अं, बा० बो०, वृ० आरम्भे

आचार्य भास्करकण्ठ :–

काश्मीर अद्वैत शैवदर्शन के शैवाचार्यों में हमें दो भास्कर आचार्यों का वर्णन मिलता है। किन्तु इनके विषय में उपलब्ध प्रमाणों से ज्ञात होता है कि ये एक न होकर दोनों पृथक्–पृथक् ही हैं। एक को तो शिवसूत्रों का टीकाकार माना गया है और दूसरे शैवदर्शन के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'भास्करी' के रचयिता है। एक को आचार्य भास्कर और दूसरे को आचार्य भास्करकण्ठ के नाम से सम्बोधित किया जाता है। आचार्य भास्कर को शिवसूत्रों के टीकाकारों में सर्वोपरि स्थान प्राप्त है। इनके जीवन–काल के विषय में निश्चित् जानकारी उपलब्ध न होने के कारण इनका स्थितिकाल अनुमान पर ही आधारित है। भट्टकल्लट राजा अवन्तिवर्मण के राज्यकाल में हुए थे और इनको भट्टकल्लट से पाँचवी पीढ़ी का स्वीकार किया गया है।[1] भट्टकल्लट का जीवन–काल 825 ई० पू० है और इस आधार पर इनका समय 950 ई० पू० के लगभग माना गया है। आचार्य भास्कर की वंशावली विषयक जानकारी भी उपलब्ध नहीं होती है। इनके पिता के रूप में 'दिवाकर' का उल्लेख मिलता है एवं स्वयं भास्कर भी अपने लिए 'दैवाकरि'[2] शब्द का प्रयोग करते हैं, और अपने आपको 'दिवाकर आत्मज' कहते हैं।[3] इनको आचार्य वसुगुप्त की परम्परा से सम्बन्धित माना गया है। श्रीकण्ठभट्ट को

1. "श्रीकल्लटाय सोऽप्येवं चतुःखण्डानितान्यथ। व्याकरोत्त्रिकमेतेभ्यः स्पन्दसूत्रैः स्वकैस्ततः। तत्त्वार्थचिन्तामण्याख्यटीकया खण्डमन्तिमम्। एवं रहस्यमप्येष श्रीमत्प्रद्युम्नभट्टाय सोऽपि स्वतनयाय च। मातुलेयाय चावदत्। श्रीमहादेवभट्टाय स्वशिष्यायाप्यसौ श्रीमत्प्रज्ञार्जुनाख्याय प्रादात्योऽप्येवमावदत्। तस्मात्प्राप्यकरोम्येष पुनः। श्रीमच्छ्रीकण्ठभट्टाय प्रददौ स्वसुताय च। सूत्रवार्विकमादरात्।।" शि० सू० वा०, उपो०,श्लो० 9
2. "दैवाकरिर्भास्करोऽहमन्तेवासिगणेरितः। यस्मादागमविभ्रंशादभान्तेभ्रमितबुद्धयः।।" शि० सू० वा०, उपो०,श्लो० 9
3. "यथाह भट्टदिवाकरवत्सः" प० सा० वि० पृ० 103

इनका गुरू स्वीकार किया गया है।[1] इनकी कुछ कृतियों का वर्णन भी मिलता है। जैसे कक्ष्यास्तोत्र, विवेकाञ्जन, शिवसूत्रवार्तिकम्, पद्मामृतसोपान तथा मीमांसा संग्रह कौमुदी।

आचार्य भास्करकण्ठ को भी एक उच्चकोटि का दार्शनिक और विद्वान् माना गया है। काश्मीर शैवदर्शन अथवा प्रत्यभिज्ञादर्शन के प्रमुख आचार्यों में इनका नाम भी विशेष उल्लेखनीय है। यह कश्मीर के ही रहने वाले थे, किन्तु इन्होंने अपने जीवनकाल एवं स्थितिकाल के विषय में कुछ भी नहीं लिखा है। इसलिए इनके सम्बन्ध में भी बहुत ही कम जानकारी उपलब्ध होती है। इनके पिता जी का नाम अवतारकण्ठ और दादाजी का नाम वैदुर्यकण्ठ था और वह धौम्यगोत्र के थे।[2] भास्करकण्ठ विवाहित थे और इनका एक बेटा भी था, जिसका नाम जगन्नाथ था। इन्होंने अपने गुरू का नाम नरोत्तमकौल बताया है।[3] इनके पुत्र के पश्चात् क्रमशः मणिकण्ठ, सोमानन्दकण्ठ, गणकण्ठ, महानन्दकण्ठ और विश्वेश्वरकण्ठ आदि उत्तरोत्तर उत्तराधिकारी हुए।[4] भास्करकण्ठ के कुछ विचार तो आश्चर्यचकित कर देने वाले हैं, जैसे जब वह यह सिद्ध करते हैं कि विश्व की प्रत्येक वस्तु उस परमसत्ता का ही अंश है, उस समय वह कहते हैं कि केवल वृक्षों में ही जीवन नहीं होता,

---

1. द्रष्टव्य, शि० सू० वा०, उपो०,श्लो० 3, तः 8
२. ''यः कण्ठधौम्यायनताप्रसिद्ध विशुद्धराजानकवंशजातः। स भास्कराख्यो द्विज एष टीकां करोति शास्त्रेऽभिनवोदितेस्मिन्।'' भा० भा० 1/2
३. ''श्रीमद्द्रारजानकवैदूर्यकण्ठात्मजश्रीमदवतारकण्ठपुत्रो भास्करकण्ठोहं-कौलनरोत्तमेभ्यश्च विद्योपदेशमासाद्य।।'' तदेव 1/3
४. "His successors after his son are Manikantha, Somananda, Kanth, Ganakatha, Mahanandakantha and Visvesvarakantha" (contribution of Kashmir to Sanskrit literature p-420)

अपितु पानी जब बहता है तो वह भी अपना स्तर ढूँढ़ता है। यह भी एक जीवित क्रिया ही है।[1]

स्थितिकाल :–

इन्होंने भी अपने स्थितिकाल के विषय में अपने किसी भी ग्रन्थ में कुछ भी नहीं लिखा है। किन्तु कुछ शैवाचार्यों से जो कि उनके (भास्करकण्ठ) सम्बन्धियों से परिचित हैं, उनसे पता चलता है कि वे आज से लगभग आठ पीढ़ियाँ पहले हुए थे। इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि वह लगभग अठाहरवीं शताब्दी के प्रारम्भिक भाग अथवा सत्रहवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में हुए होंगे। भास्करी भाग एक की भूमिका में लिखा है कि वह मुगल साम्राज्य के पतन के समय हुए थे।

भास्करकण्ठ की रचनाएँ :–

इनकी कुछ रचनाएँ उपलब्ध हैं, जिनका दार्शनिक जगत् में विशेष महत्त्व है, वे निम्नलिखित हैं :–

1. **भास्करी :–** अपने नाम के ऊपर आचार्य अभिनवगुप्त की प्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी पर जो भाष्य इन्होंने लिखा है, वही भास्करी के नाम से प्रसिद्ध है। यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण टीका है, जो इनकी विद्धत्ता को उभारती है। अभिनवगुप्त की विमर्शिनी इतनी जटिल रहस्य वाली है कि बिना भास्करी की सहायता से उसे समझ पाना साधारणजन की बुद्धि के बाहर है। कश्मीर में रहने वाले पण्डित भी इसका समाधान नहीं कर पाए थे। इस प्रकार इस भाष्य ग्रन्थ (भास्करी) से लोग बहुत लाभान्वित हुये हैं। उन्होंने (भास्करकण्ठ) अभिनवगुप्त की विमर्शिनी पर बहुत ही सरल भाषा में भाष्य लिखा है। इन्होंने मूलकृति का कोई भी

1. "Everything is ultimately consciousness, he argues quite seriously, not only that there is consciousness, present in trees, but also that when water finds its own level, it is also a conscious activity. (Bh, vol. 1, p-5)

शब्द व्याख्यान के बिना नहीं छोड़ा है। किन्तु यह शब्दों का अनुवाद नहीं है वास्तव में उन्होंने इसमें शैवदर्शन की दार्शनिकता को उभारा है और जहाँ उन्हें आवश्यकता हुई, उन्होंने अभिनवगुप्त के अर्थ को विस्तृत रूप दिया है।

2. **लल्लावाक् का संस्कृत अनुवाद :-** लल्लावाक् पुरानी कश्मीरी में लिखा गया एक शैवग्रन्थ था, जिसकी रचना एक चौदहवीं शताब्दी की प्रसिद्धि कश्मीरी दार्शनिक और सिद्धा लल्लेश्वरी ने की थी। आचार्य भास्करकण्ठ ने उसका संस्कृत अनुवाद किया था।[1]

3. **योगवाशिष्ठ पर भाष्य :-** आचार्य भास्करकण्ठ ने अपनी महत्त्वपूर्ण रचना भास्करी के प्राक्कथन में स्वयं बताया है कि इस ग्रन्थ में (योगवाशिष्ठ पर भाष्य में) एक लाख और दस हज़ार श्लोक हैं, जिनमें से अधिक काल का ग्रास हो चुके हैं।

4. **हर्षेश्वरस्तव :-** यह रचना उन्होंने तब की, जब वह हर्षेश्वर मन्दिर गये थे, ऐसा हमें प्रथा से ज्ञान होता है। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भास्कर आचार्य और भास्कर कण्ठ दोनों आचार्य पृथक्-पृथक् काल में हुए, इनकी वंशावली भी पृथक्-पृथक् ही है। अतः स्पष्ट है कि ये एक न होकर दो पृथक्-पृथक् काश्मीर शैवदर्शन के आचार्य हुए हैं।

महेश्वरानन्द :- महेश्वरानन्द काश्मीर अद्वैत शैव दर्शन के उद्भट विद्वान् थे। इनके जन्म-काल एवं जन्म स्थान के सम्बन्ध में विद्वानों में तरह-तरह के मतभेद पाए जाते हैं। कुछ विद्वान् इनको कश्मीर का निवासी मानते हैं और इसके पीछे यह तर्क

1. ''श्रीलल्लायोगिनीवाक्यजातं षष्ठ्या मया स्फुटम्।
श्लोकानां भास्करेणेहं दृब्धमस्तु शिवार्पणम्।।'' ल० वा०, पृ० 28, श्लो० 1

देते हैं कि इन्होंने अपनी रचनाओं में उत्पलदेव, अभिनवगुप्त, क्षेमराज आदि शैवाचार्यों का बड़े आदर से नाम लिया है और उनकी रचनाओं से अपने मत की पुष्टि में उद्धरण दिए हैं, जहां तक कि इनकी रचनाओं में लेखन शैली एवं सिद्धान्त अभिव्यक्ति भी इन आचार्यों से प्रभावित लगती है।

दूसरी ओर यह मत पाया जाता है कि चूँकि इनको कामरूप (आसाम) में जयादि देवियों द्वारा दर्शन देकर संविन्मार्ग का सदुपदेश दिया गया था, इसलिए यह कामरूप देश के निवासी रहे होंगे।

इसी प्रकार एक मत के अनुसार इनको चोल (कर्नाटक) देश का निवासी मानते हैं। तदनुसार इनके पिता का नाम माधव बताया गया है।[1] इन्होंने अपने गुरु का नाम बड़े आदर से 'महाप्रकाश' बतलाया है, जो शिवानन्द (द्वितीय) के शिष्य थे।[2] इनके गुरु सर्वशास्त्र विशारद, तत्त्वज्ञ और अध्यात्म विभूतियों से परिपूर्ण थे।[3] इनके पितामह गुरु का नाम शिवानन्द था जो उच्च कोटि के विद्वान्, क्रम साधक और आत्मज्ञान सम्पन्न थे।[4] इनके गुरु महाप्रकाश और महागुरु शिवानन्द भी चोल देश के ही रहने वाले थे। अपने गुरुओं की तरह ही महेश्वरानन्द क्रम, कौल और प्रत्यभिज्ञा दर्शन में निष्णात विद्वान् थे। माहेश्वराचार्य अभिनवगुप्त को यह अपना आदर्श मानते थे और उनके ज्ञान के प्रभाव से अपने को प्रतिफलित मानते थे।[5]

---

1. "चोलास्ते सततोत्सवा जनपदाः श्लाघ्यो गुणैर्माधवो रेतोधाः" महा० मं० 202
2. नमो निखिलमालिन्यविलापनपटीयसे।
   महाप्रकाशपादाब्जपरागपरमाणवे।। महा० मं० 1
3. तच्च तत्त्वविदं लोके वेदशास्त्रकलास्वपि।
   महार्थसिन्धुमन्थानं श्रावयागास देशिकम्।। तदेव, पृ० 198
4. तदेव, पृ० 134
5. "...... आचार्यानभिनवगुप्तपादनाथान् .... वाग्वल्याः प्रचुरफलो ननु प्ररोहः।। तदेव, 202

महेश्वरानन्द ने अपनी रचना महार्थमञ्जरी में स्वसिद्धान्त आविर्भाव विषयक मत देते हुए कहा है कि आदिगुरू शिव ने इसका प्रकटाव करके अपनी इच्छाशक्ति से औत्तराम्नाय के रूप में प्रसरित किया।[1]

जयरथ अनुसार अधोरूपा पीठेश्वरियों द्वारा उत्तर पीठ में उपदिष्ट एवं साक्षात् अनुग्रहप्राप्त शिवानन्दनाथ (प्रथम) को क्रम दर्शन में जगत् का प्रकाशक माना जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि वह कश्मीर (उत्तरपीठ) के रहने वाले थे क्योंकि इस दर्शन का प्रादुर्भाव कश्मीर से ही माना जाता है।[2]

महेश्वरानन्द के अपने कथनानुसार पता चलता है कि इस दर्शन के अध्यात्मपरक रहस्यों को समझने से पहले इन्होंने क्रम दर्शन से सम्बन्धित साधनाओं का पूरी तरह पालन किया था, जिससे इनको अतिभौतिक रहस्यों का ज्ञान हुआ था। इस साधना क्रम में उपयुक्त गन्ध, पुष्प, अक्षत, मदिरा, दूती एवं विधि–विधान का पालन एवं एकाग्रता से संवित् देवी का तर्पण किया था।

इनके कथनानुसार क्रम साधना के दूती विधान प्रक्रिया के अन्तरगत परा भगवती का सिद्धयोगिनी के रूप में अनुग्रह प्राप्त हुआ था, जिसके फलस्वरूप इनको आत्म तत्त्व के गुढ़ रहस्यों की जानकारी प्राप्त हुई। इस दैवी कृपा के पश्चात् एवं अपने गुरू के निर्देश अनुसार इन्होंने महार्थमञ्जरी का 70 महाराष्ट्री प्राकृत श्लोकों में प्रणयन किया।

महेश्वरानन्द के अपने कथनानुसार लोक में उनका नाम ''गोरक्ष'' संज्ञा से प्रसिद्ध था और शैव दीक्षा ग्रहण करने के

1.
2. तदेव, 195
''सम्प्रदायस्य कश्मीरोद्भूतत्वात्'' महा० मं०, 193

पश्चात् गुरूओं द्वारा सम्प्रदाय अनुसार महेश्वरानन्द नाम रखा गया।[1] उपर्युक्त कथित तथ्यों के अनुसार महेश्वरानन्द के सम्बन्ध में निस्संदिग्ध, रूप से यह सिद्ध हो जाता है कि वह बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न व्यक्तित्व होने के साथ-साथ सर्वशास्त्र विशारद एवं सिद्ध महापुरुष थे।

यद्यपि महेश्वरानन्द ने कहीं भी अपनी रचनाओं में अपने समय के सम्बन्ध में उल्लेख नहीं किया है तथापि कृतियों में प्रदर्शित तथ्यों के अनुसार उनका समय 11 वीं शताब्दी के आस-पास सम्भावित किया जा सकता है, क्योंकि इन्होंने उत्पलदेव, अभिनवगुप्त क्षेमराज आदि शैव आचार्यों के उल्लेख के साथ-साथ उनकी रचनाओं से उद्धरण भी दिए हैं, अतएव स्वाभाविक रूप से यह उनके बाद के हैं। इन शैव आचार्यों में क्षेमराज सबसे बाद में है और इनका समय लगभग 10 वीं शताब्दी का प्रारम्भिक अथवा मध्य काल माना गया है। दूसरी तरफ जयरथ ने तन्त्रालोक विवेक में महेश्वरानन्द को बड़े आदर से स्मरण किया है अतएव यह उनके पहले के हैं। जयरथ का समय 12 वीं शताब्दी का अन्त अथवा 13 वीं शताब्दी का आरम्भ विद्वानों ने माना है।

कृतियाँ – महेश्वरानन्द ने क्रम, कौल, प्रत्यभिज्ञा विषयक बहुत सी रचनाएँ लिखी हैं जिनमें से मात्र प्रमुख रचना महार्थमञ्जरी परिमल संज्ञक भाष्य उपलब्ध है। शेष रचनाओं का अता-पता नहीं चलता है केवल उद्धरण से जानकारी मिलती है- पादुकोदय, संविदुल्लास, महार्थोदय, सूक्त, परास्त्रोत्र, कोमलावली स्तव, मुकुन्द केलि, कुण्डलाभरणनख प्रताप आदि।

1. गोरखो लोकधिया देशिकदृष्टया महेश्वरानन्दः।
उन्मीलयामि परिमलमन्तग्राह्यं महार्थमञ्जर्याम्।। महा० मं०,1

लल्लेश्वरी :–

चौदहवीं शताब्दी के मध्य काल (1350–1450ई०पू०) में भारत के शिरोमणि कश्मीर की उच्च आध्यात्मिक एवं प्राकृतिक सौन्दर्य मूर्त्ति एवं पावन स्थली में एक महान् योगेश्वरी लल्लेश्वरी देवी का आविर्भाव हुआ, जिसको आज भी विशेषकर कश्मीर में अत्यन्त सम्मानपूर्वक जन-जन के हृदय स्थल में निहारा जा सकता है। इनको ''लल्ला'' या ललद्यद (लल्ल माता) भी कहा जाता है। इनकी जीवनी के सम्बन्ध में कोई प्रामाणिक विवरण उपलब्ध नहीं है। किन्तु इस राज्य के लोगों में प्रचलित जन श्रुतियाँ परम्परागत किंवदन्तियाँ और लोक प्रसिद्ध कथानक प्रचलित हैं, जो कालान्तर में लिपिबद्ध भी हो जाने से इनके सम्बन्ध में कुछ सीमा तक पटाक्षेप का अनावरण करते हैं।

तदनुसार, वह श्रीनगर से दक्षिण-पूर्व की ओर छः मील की दूरी पर स्थित सिंहपुर गाँव में एक कश्मीरी ब्राह्मण परिवार में उत्पन्न हुई थीं। वहाँ से दो मील की दूरी पर अवस्थित प्रसिद्ध नगर पद्मपुर (पाम्पोर) में विवाही गई थीं। ससुराल में इनको पद्मावती कहा जाता था। इनकी सास बड़ी क्रूर स्वभाव की थी। उसको अपनी भोली-भाली विनम्र बहू फूटी आँख नहीं सुहाती थी। वह इनके साथ बहुत ही बुरा एवं अपमानजनक व्यवहार करती। बदनाम करने के लिये विविध प्रकार के दोषारोप करती। यहाँ तक ही सीमित नहीं, इनके विरुद्ध इनके पति के कान भरती और मन मुटाव बढ़ाती। अपमानजनक व्यवहार करती। इसके विपरीत ''लल्ला'' तन-मन लगाकर घर का पूरा कामकाज करती। प्रत्येक ढंग से घर में सुख-शान्ति बनाये रखने का पूर्ण प्रयत्न करती। उनकी सास इनको भरपेट खाने को भी नहीं

देती। परन्तु लल्ला माता सब कुछ सहर्ष सहन कर लेती और उफ तक न करती।

इनके घरेलू दुःखमय जीवन के विषय में तथ्य उस समय प्रकाश में आया, जब एक दिन इनकी ससुराल-घर में किसी उत्सव के उपलक्ष्य में भोज दिया गया। जब उस दिन ललद्यद नदी घाट पर गई तो वहाँ इनकी अपनी कुछ सहेलियों से भेंट हुई। हंसी मखौल की बातों में उन्होंने इनसे पूछा –"आज आपने खूब पकवान खाये होगें।" इस पर इन्होंने कहा –

वे भेड़ को मारे या मछली पकायें, "लल" का भाग पत्थर के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।[1] संयोग से इनके श्वसुर ने कहीं पास से ही स्थित होने से यह संवाद सुन लिया। उनको भी विस्मय हुआ। इसीलिये उन्होंने घर जाकर इस बात की छानबीन की और उन्हें ज्ञात हुआ कि जो कुछ "लल्ला" ने कहा था, वह बिल्कुल सत्य था। वास्तव में उनकी सास थाली में खाना परोसते समय उबले हुये चावलों के कुछ दानों के नीचे एक सिलबट्टा रख देती थी, ताकि थाली भरी हुई दिखाई दे। परन्तु इस घटना से पहले "लल्ला" ने कभी भी किसी से इस बात की चर्चा नहीं की थी। सब कष्टों को ईश्वर देन समझकर झेल लिया था।

उस समय की प्रथानुसार ललद्यद ने अल्पायु में ही कुल गुरु सिद्ध "वायु" से उपदेश लिया हुआ था। वे प्रायः घर से निकलकर कहीं दूर चली जाती और एकान्त में योग-साधना में निमग्न रहती। उनकी सच्ची निष्ठा, त्याग, सहनशीलता और लक्ष्य की प्राप्ति के लिये दृढ़ एकाग्रता शीघ्र ही रंग लाई। उन्होंने अध्यात्म साधना में यथेष्ट सिद्धि प्राप्त करके अपने गुरु

1. "हुण्ड मारितन या कुण्ड, ललि निलवठ चलि न जांह" लह० वा०

को भी मात दे दी। इस सम्बन्ध में अब तक अनेक जनश्रुतियाँ प्रसिद्ध हैं। अध्यात्म–लग्न की प्रगाढ़ता के कारण ही एक दिन इन्होंने गृह त्याग का पक्का निश्चय कर लिया और एक मस्त कलन्दर की भाँति जहाँ–तहाँ अर्ध–नग्न अवस्था में घूमने लगी। अपनी ऐसी स्थिति के विषय में उन्होंने स्वयं कहा कि उन्हें अपने गुरु के वचनों पर अटूट विश्वास था। उनसे बार–बार प्रार्थना करने पर यही दीक्षा मिली–

बाहर से भीतर को जा।[1] मुझ लल्ली ने वही आदेश और उपदेश माना तथा इसी कारण मैं दिगम्बर अवस्था में नाचने लगी।

लल्लेश्वरी का मत था जो अस्त्र–शस्त्र विद्या में निपुण एवं बलवान् होता है, वह राज्य का भागीदार बनता है। जो तप–दान–पुण्य कर्म करता है, वह स्वर्ग का अधिकारी बनता है। इसी प्रकार जो आप्त गुरु को शिक्षाओं का पालन करता है, वह सहज ही स्वरूप (आत्मसाक्षात्कार) पा लेता है।

अपने ''लल'' नाम के विषय में उन्होंने स्वयं कहा है कि जब मैं अत्युत्कृष्ट जिज्ञासा से सम्पन्न होकर पूर्ण समर्पण करके ईश्वर के आगे आँचल फैलाये बैठ गई, तो मेरा नाम ''लल'' रूप से प्रसिद्ध हो गया।[2]

इनके ''ललद्यद'' के रूप में नाम प्रसिद्धि का दूसरा कारण यह बतलाया जाता है कि इनके उदर का अधोभाग (जिसे कश्मीरी में ''लल'' कहा जाता है) बढ़ गया था और उनके गुप्तांग पर आवरण का काम देता था। कहा जाता है कि ऐसी ही अवस्था में उनकी भेंट प्रथम बार ''शाह हमदान'' से हुई

1. ''न्यबर दोपनम अंद्रिय अचुन'' ल० द्य० वा०–14
२. ''म्य ति कला गनेयि, जोगमस तती'' ल० द्य० वा० 34

थी। उनके सामने आते ही ये समीप के नानबाई की जलती हुई भट्टी में जा छुपी और थोड़ी देर पश्चात् वहाँ से चमकदार सुन्दर उज्जवल पहरावे में पुनः प्रकट हो गई। जब उनमें इसका कारण पूछा गया, तो इन्होंने कहा कि मैंने जीवन में पहली बार एक पुरुष (ईश्वरभक्त पुरुष) को देख लिया है। शाह हमदान 1379–80 से 1385–86ई०पू० तक कश्मीर में रहे थे। कहा जाता है कि इस समय के मध्य में उनके साथ इनकी अनेक बार ज्ञान चर्चायें होती रही और ऐसी भी प्रसिद्धि है कि श्रीनगर में स्थित ''चार शरीफ के शेख नुरुद्दीन वली से भी इनकी कई बार मुलाकात हुई थी, जिससे इन्होंने उनको अपनी योगसिद्धि तथा अध्यात्म दर्शन से प्रभावित किया था। ऐसी महायोगिनी एवं अद्वैतशैवी साधना की साक्षात् मूर्तिरूपा का शिवधाम गमन दीर्घायु व्यतीत करने के बाद बिजबिहाड़ा नामक गाँव में जामा–मस्जिद के बाहर हुआ था।

व्यक्तित्व :– लल्लेश्वरी एक अत्युच्च व्यक्तित्व की मालकिन थी उनके आचार–व्यवहार एवं विचारों में उनका आध्यात्मिक चरित्र दिखाई देता है।

इनके जीवन के साथ अनेक चमत्कार जुड़े हुये हैं, यद्यपि इन्होंने कभी भी इनको अपने जीवन में अधिमान नहीं दिया। प्रत्युत चमत्कारों व करिश्मों से उनको घृणा थी। वे ऐसी प्रक्रियाओं को एक मदारी का कार्य समझती थी। उनके अनुसार बहती नदी को रोक लेना, भड़कती हुई अग्नि को बुझा देना, आकाश गमन करना, काष्ठ–धेनु से दूध दुहना–ऐसी सभी हरकतें कपट चरित होती हैं –

जल थमवुन हुतवाह तुरनावुन ऊर्ध्वगमन पैरव चरिथ।
काठधेनि दूध श्रमावुन अन्ति सकल कपट चरिथ।।

वह एक पूर्ण एवं सफल शिव–योगिनी थी। त्रिक् शास्त्र के रहस्यों और तान्त्रिक साधनाओं से सर्वथा परिचित थी, ऐसा उनकी वाणी (वाखों) से स्वतः स्पष्ट है। उनमें बार–बार प्राण–अपान, नाद–बिन्दु, कुण्डलिनी योग कक्षाओं अैर बह्मरन्ध्र आदि का वह उल्लेख करती है। उनकी मान्यतानुसार परमशिव अकुल हैं और शक्ति कुल रूप है। वह शिव का ही दूसरा रूप (Form) है। माया भी एक शक्ति है, भ्रान्ति नहीं। विश्व शक्ति (Universal power) का ही विकास होने से सत्य है।

उनका हृदय द्वैत भावना से शून्य था। वह सर्वत्र चराचर जगत् में एक ही अद्वयमयी परमसत्ता का अवलोकन करती थी। उनका मन सांसारिकता से ऊपर उठकर सार्वभौमता को प्राप्त कर चुका था, जिससे धर्म–अधर्म, भक्ष्य–अभक्ष्य, हिन्दू–मुस्लिम, जाति–पाति का भेद खत्म हो चुका था। वे जो भी कार्य करती थी, परापूजा का ही रूप होता था, ईश्वर–आराधना ही होता था। जो कुछ बोलती ईश्वर नाम ही होता एवं जो कुछ देखती, सब शिवरूप होता– वे अपने अन्दर ही ईश्वर प्राप्ति से सदा हर्षित एवं उल्लसित रहती थी।

इनके जीवन पर सूफी सन्तों का भी प्रभाव था एवं उनपर इनके दर्शन का भी पर्याप्त प्रभाव था। इसलिये इनकी विचारधारा में एक अद्भुत समन्वय का सामरस्य था, जिसका हिन्दू–मुसलमान एवं सम्पर्क में आने वाले सभी लोगों पर गहरा असर (Effect) पड़ा। यही कारण है कि आज भी हिन्दू–मुस्लिम समान रूप से इनकी वाणी का सम्मान करते हैं, जो कश्मीरियत अथवा वहाँ की संस्कृति (Culture) की एक पहचान है।

इनके मुख से निकले हुए वाक् आज 'ललावाक्' के रूप में उपलब्ध होते है। इनके वाक्ों पर अलग-अलग विद्वानों ने टीकाएँ लिखी है।

स्वामी लक्ष्मण जू

इस महान् शैवाचार्य का जन्म 9 मई 1907 को श्रीनगर में श्री नारायण जू रैणा के घर में हुआ। इनकी माता जी का नाम अरण्यमाली था। इनके जन्म की सूचना जब उस समय के महान् शैवाचार्य एवं उनके कुल पुरोहित स्वामी राम जी को मिली तो वह बहुत ही प्रसन्न हुये। प्रसन्नमुद्रा में स्वामी राम ने उसी समय भविष्यवाणी की कि यह बालक महान् शिवभक्त बनेगा और परिपूर्ण योग से सम्पन्न होगा।

नामकरण संस्कार के दिन जब स्वामी राम जी से नाम के विषय में पूछा गया तो उन्होंने एकदम कहा कि मैं राम हूँ और वह लक्ष्मण है। श्री राम जी वृद्ध होने पर भी बालक के जन्म से इतने प्रसन्न हुए कि एकाएक देहभाव को भूल कर मैं राम हूँ और यह उत्पन्न हुआ बालक लक्ष्मण है गाते हुए नाचने लगे। स्वामी राम जी श्री नारायण जू रैना के कुल पुरोहित थे और इनकी गणना कश्मीर के महान् शैवाचार्यों में की जाती है।

स्वामी लक्ष्मण जू एक सोम्य सन्त थे। इनके शालीन जीवन का आकलन करने से यह बात सिद्ध हो जाती है कि ये शैशवावस्था से ही पराशक्ति के वैभव का साक्षात्कार करने के लिए उत्सुक थे। इसलिए तीन वर्ष की अल्प आयु में अपने पूर्व संस्कारों के कारण स्वयं मिट्टी को गूंथ कर शिवलिंग बनाया करते थे और बड़ी तन्मयता के साथ उसमें फूल और जल चढ़ाते थे।

जब इन्हें राजकीय विद्यालय में पहली कक्षा में दाखिल किया गया तो वे अपने साथ अपना आसन पट भी बैठने के लिए लेते थे और उसी पर अपनी कक्षा में आखें मींच कर बैठा करते थे। एक दिन कक्षा में अध्यापक के पूछने पर कि वे आँखे मीच कर क्या देखते हैं ? तो बालक लक्ष्मण ने सहज स्वभाव से उत्तर दिया कि संसार में जो सब से बड़ा है, वह उसी को आँखे बन्द करके देखते हैं। तब इनके अध्यापक ने प्रतिक्रिया करते हुए कहा कि इतनी अल्प आयु में इतनी बड़ी–बड़ी बातों को करने वाला यह कोई असाधारण बालक ही हो सकता है।

पाँच साल की अल्प आयु में बालक लक्ष्मण की साधना में और अधिक बदलाव आया था। वह सुबह शाम चौकड़ी मारकर बैठते थे। कभी आँखें मुंदे हुए ही ज़मीन पर गिरते थे और कभी घबराहट के साथ चौंक उठते थे। माता पिता बालक की यह दशा देखकर घबरा गए और शैवाचार्य स्वामी राम जी के पास बालक को ले गए। वहाँ भी बालक लक्ष्मण जब बैठे बैठे ही नीचे को गिर गए तो स्वामी राम जी ने उन्हें परामर्श दिया कि ऐसे समय इनके सिर में थोड़ा सा मक्खन धीरे–धीरे मलना चाहिए। इससे इनका प्राण वायु स्वयं संचार करने लगेगा। इसमें भय की कोई बात नहीं, क्योंकि ये पूर्व जन्म के योग भ्रष्ट हैं। परन्तु माता अरण्यमाली इस उपचार को विशेष न समझ कर स्वामी राम जी से पुनः प्रार्थना करने लगी कि क्या इस उपचार मात्र से बालक ठीक हो जाएगा ? स्वामी राम जी पुनः हंसते हुए उत्तर दिया कि आपके लाल को कोई विशेष रोग नहीं है। भगवान् शंकर से प्रार्थना करो कि जो बीमारी आप के लाल को लगी है उसी बिमारी से स्वामी राम सदा ग्रस्त रहें।

9 वर्ष की आयु में इनका यज्ञोपवीत संस्कार हुआ और इस संस्कार के पश्चात् इनकी साधना एवं जाप सुबह शाम निर्बाधरूप से चलने लगा और ये साधना की एक के बाद एक सीढ़ी पार करते गए।

13 वर्ष की आयु में श्री नारायण जू रैणा ने अपने पुत्र के विवाह के लिए प्रयत्न शुरू किए, परन्तु स्वामी लक्ष्मण जू ने अपने घर वालों को स्पष्ट शब्दों में कहा कि हम आजन्म ब्रह्मचारी बने रहेंगे। अतः विवाह का प्रयत्न करना व्यर्थ है। यदि आप हमें विवाह के लिए बाध्य करेगें, तो हम घर छोड़ कर चले जायेंगे।

अब स्वामी राम जी की देखरेख में स्वामी लक्ष्मण जी सांसारिक रंग में रंगने की अपेक्षा साधना के रंग में अधिक रंगने लगे। अपने अन्तिम समय को निकट देखकर स्वामी राम जी ने बालक लक्ष्मण को अपने प्रधान शिष्य महताबकाक को सौंप कर अपना अधूरा कार्य पूरा किया और स्वयं वे सन् 1915 में माघ कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी को शिवधाम को सिधारे। स्वामी महताब काक जी बाल–ब्रह्मचारी और वैराग्यभाव से सुशोभित थे। इनकी ही शिक्षा–दिक्षा में अभ्यास परायण रहकर स्वामी लक्ष्मण जू शुक्लपक्ष की चन्द्रकला की भाँति दिन प्रतिदिन वृद्धि पाकर पूर्णिमा के सुधाकर बन गए। पिता श्री नारायण जू रैना की बीमारी के कारण स्वामी लक्ष्मण जू को मिडल की परीक्षा उत्तीर्ण करने के पश्चात् पाठशाला जाना छोड़ना पड़ा और पिता श्री के कार्य में सहायता करने लगे। परन्तु वहाँ भी वे अपना अभ्यास निर्बाध रूप से करते रहे। बाद में उन्होंने संस्कृत भाषा साहित्य संस्कृत व्याकरण एवं शैव शास्त्रों का यथोचित ज्ञान कश्मीर रिसर्च कार्यालय के मुख्य पंडित श्री महेश्वर जू

राज़दान से प्राप्त किया। इस प्रकार दर्शन के इस क्षेत्र में महारथ प्राप्त करके स्वामी लक्ष्मण जू प्रधान शैवाचार्यों में गिने जाने लगे तथा इनकी विद्वत्ता की धाक देश विदेश में जमने लगी जिसके परिणाम स्वरूप न केवल देशीय विद्वानों का तांता अपितु विदेशी विद्वान् भी अपनी ज्ञान वृद्धि के लिए तथा अपने भिन्न भिन्न कश्मीर–शैव दर्शन सम्बन्धित शोध पत्रों की पूर्ति के लिए इनके आश्रम पर पधारने लगे। इनमें फ्रांस की डॉ० सिलबर्न, कैलीफोर्निया के जान ह्वेग आदि प्रमुख हैं। देशीय विद्वानों में डॉ० जयदेव सिंह ने स्वामी लक्ष्मण जू की छत्रछाया में बैठकर प्रत्यभिज्ञा हृदयम् और परात्रिंशिका जैसे आगम ग्रन्थों का आंगल भाषा में विस्तृत अनुवाद करके दार्शनिक क्षेत्र को चौंकाया। स्वामी लक्ष्मण जू ने स्वयं भी शैव दर्शन के गूढ़ रहस्यों को जन मानस तक पहुँचाने के लिए अथक प्रयास किया। अतः उन्होंने तो कई ग्रन्थों की टीकाएँ लिखीं तथा कई ग्रन्थों पर भाष्य भी लिखे जिनमें श्री उत्पल देव की शिवस्तोत्रावली, वसुगुप्त के शिवसूत्र, श्री धर्माचार्य की श्री पंचस्तवी, क्षेमराज की पराप्रावेशिका, श्री साम्बपंचाशिका आदि। इनके अतिरिक्त उन्होंने स्वयं भी शैवशास्त्रों पर कुछ पुस्तकें लिखीं जिनमें त्रिक शास्त्र रहस्य प्रक्रिया, कश्मीर शैवदर्शन में साधना और यम नियम, कुण्डलिनी विज्ञान रहस्य, श्री अमृतेश्वर भैरव महिम्नस्तोत्रम, Kashmir Shaivism, Self Realisation of Kashmir Shaivism आदि। प्राचीन शैव ग्रन्थों पर टीकाएँ एवं भाष्य लिखने की आवश्यकता पर बल देते हुए स्वामी जी ने श्री साम्बपंचाशिका की भूमिका में स्वयं लिखा है कि :–

संस्कृत टीकाओं को समझ सकने वाले तथा संस्कृत जानने वाले लोगों की संख्या ही आजकल कितनी है। अतः प्राचीन

संस्कृत ग्रन्थों के अनुवाद किसी ऐसी देश–भाषा में प्रकाशित करने से लोगों का उपकार हो सकता है जिसे वे अधिक से अधिक संख्या में समझ सके। यदि हम चाहते हैं कि संस्कृत पुस्तकों और शास्त्रों का अध्ययन अधिक से अधिक लोग कर सके तो इस बात की अत्यन्त आवश्यकता है कि संस्कृत साहित्य रूपी बहुमूल्य कोष का द्वार सर्व–साधारण के लिए खुला रखने की चेष्टा की जाए और हिन्दी–टीका रूपिणी कुंजी से इसे खोल कर लाभ उठाने का उसे सुअवसर दिया जाए।

स्वामी लक्ष्मण जू साधारण जीवन करते हुए भी अलौकिक व्यक्तित्त्व से परिपूर्ण थे। इनके इस असाधारण व्यक्तित्त्व के सामने किसी की एक भी नहीं चलती थी। शास्त्र प्रसिद्ध चौंसठ कलाओं में से कोई भी कला ऐसी नहीं थी जिसके परखी होने का गौरव इन्हें नहीं था। पर भैरव की इन पर इतनी असीम कृपा थी कि कोई भी विशेषज्ञ इनके सामने अपनी सर्वज्ञता का दावा नहीं कर सकता था। इनका व्याख्या करने का ढंग ही अनूठा था। पाषाण बुद्धिवाला व्यक्ति भी इनकी शब्दार्थ उष्मा से विच्छिन्न होकर विगलित हो उठता था। अपने अनुभवजन्य ज्ञान के आधार पर शब्दों की नवीनतम व्याख्या देकर साधकों को अचम्भे में डालते थे। वास्तव में अहर्निश साधना में लीन होने के कारण क्षण–क्षण के पश्चात् ही उनमें नवीनता आती थी।

''तत्वज्ञानाम् तृणं शास्त्रम्'' अर्थात् तत्त्व ज्ञानियों के लिए शास्त्र ज्ञान तिनके के समान है। इस मर्म को पूरी तरह से जानते हुए भी स्वामी लक्ष्मण जू लोक मर्यादा का पालन करने के लिए भगवान श्री राम की तरह साधारण प्राणी का सा आचरण करते थे। लोक मर्यादा किसी भी प्रकार से भंग न हो इसका उन्हें विशेष ध्यान था। भक्ति की उन्मत्तावस्था में विभोर

होकर कभी हंसते थे और कभी आवेश में आकर अश्रुधारा से गुरुचरणों पर लगी भौतिक धूल को सलीके से पोंछते थे। कभी इनकी भावगंगा उत्पलदेव से टक्कर लेती थी और कभी आचार्य अभिनवगुप्त की दार्शनिक धारा को लहलहाती थी। त्याग और वैराग्य से जीवन को उज्जबल बनाकर ये आदर्श महापुरुष सबों के लिए आदर्श बनकर अपना जीवनयापन करते थे। अपने भक्तों की भक्ति से भगवत्स्वरूप बने हुए श्री लक्ष्मण जू समय समय पर भक्तों को कर्तव्य अकर्तव्य की ओर सचेत करते थे। स्वामी जी लौकिक या अलौकिक क्रिया कलापों के सच्चे पारखी थे। निर्माण आदि कार्यों में बड़े-बड़े इन्जीनियों से भी अधिक अनुभवी थे। बाग बगीचों की देखभाल में लगे कुशल मालियों को भी हाथ पकड़ पकड़ कर पौधों की सुरक्षा का काम सिखाते थे। जमीनदारी का काम इतने सलीके से करते थे कि लगता था कि जमीनदारी इनका जन्मजात व्यवसाय है।

स्वामी लक्ष्मण जी सदा अपने भक्तों को आगामी विपत्तियों के विषय में सचेत करते रहते थे। कश्मीर में आतंकवाद के फैलने से दो वर्ष पूर्व ही स्वामी लक्ष्मण जू ने आने वाले उपद्रव की ओर इशारा किया था तथा इस उपद्रव से बचने के तौर तरीके भी बताए थे। अक्तूबर 1984 में जब श्रीमती इन्दिरा जी इनके दर्शनों के लिए ईश्वर निशात आश्रम में आई थी तो स्वामी जी ने श्रीमती इन्दिराजी को इस बात से सचेत किया था कि आने वाला समय आप के लिए ठीक नहीं है और अपनी सुरक्षा तंत्र को और सुदृढ़ करने की प्रार्थना भी की थी। स्वामी लक्ष्मण जी केवल शाकाहारी लोगों को ही गुरुमंत्र देते थे। इनका सत्संग का रसपान करने के लिए केवल हिन्दु लोग ही नहीं आते थे अपितु मुस्लिम तथा सिख धर्म से सम्बन्ध रखने

वाले लोग भी इनके सत्संगों में आया करते थे। क्योंकि शैवदर्शन कोई विशेष धर्म न होकर एक ऐसा साधन है जो सर्वजन साध्य है। यह किसी विशेष धर्म के लिए नहीं बना है। विशेष धर्म, वर्ण, जाति और देश के लिए इसकी उपादेयता न होकर संसार के प्रत्येक व्यक्ति के लिए यह ग्राह्य है।

अमृतवाग्भवाचार्य :-

आचार्य अमृतवाग्भव एक ऐसी ही दिव्य आत्मा थे जो भगवान् की प्रेरणा से सर्वगुण सम्पन्न होकर इस मृत्युलोक पर अपनी प्रतिभा एवं दिव्य ज्ञान के माध्यम से संसार का परोपकार करने के लिए पैदा हुए थे।

जीवनवृत और समय :-

आचार्य के जीवन, समय और स्थान आदि के विषय में परिपूर्ण जानकारी इनकी कृतियों से उपलब्ध नहीं होती है, तथापि उनसे अंशतः परिचय उपलब्ध हो ही जाता है।

वंश परम्परा :-

आचार्य की स्वरचित कृतियों के अनुसार इनकी जन्म-धरा भारत की सुप्रसिद्ध एवं पवित्र गंगा-यमुना नदियों के मध्यभाग में स्थित भी, वहाँ एक विद्वान्, अति कुलीन और उच्च ब्राह्मण सत्कुल में इनका जन्म हुआ था।[1]

अमृतवाग्भव जी का जन्म 1903 ई० प० में इनके ही अन्तरंग शिष्य डॉ० बलजिन्नाथ पण्डित के कथन के अनुसार हिन्दुओं के परम पावन तीर्थस्थल प्रयाग में हुआ था। इनके पिता का नाम श्री कृष्ण शास्त्री वर्कल और इनकी माता का

1. (क) ''अन्तर्वेदिसमुद्भूतः कोऽपि विद्वद्पश्चिमः।
पङ्क्तिपावनविप्राणामुत्पन्नो विदुषां कुले।।'' आ० वि० 7/2
(ख) ''विद्वद्ब्राह्मणसत्कुलोद्भववपुर्विद्वद्वरिष्ठ स्वयं'' तदेव 7/9

नाम राधा था।[1] ईश्वर को इनका मातृप्रेम प्रिय नहीं था, इसलिए तीन वर्ष की आयु में ही इन्हें उनका वियोग झेलना पड़ा। शिशु के पालन पोषण की कठिनाई को ध्यान में रखते हुए इनके पिताजी ने एक वर्ष बाद ही दूसरा विवाह कर लिया। आचार्य की विमाता से उत्पन्न इनके भाई का नाम रामचन्द्रवर्कले था।[2] अमृतवाग्भव का बचपन का नाम ''वैद्यनाथ वर्कले'' था। हिमाचल प्रदेश और जम्मू-कश्मीर के लोग इन्हें 'आनन्दस्वरूप' के नाम से भी जानते थे। आचार्य के वंश की अल्ल वरकल अर्थात् वर्कले थी। यह अपने पिता का बहुत सम्मान करते थे एवं उनके आज्ञाकारी थे। इनके पिता बड़े महान्, तपस्वी और सर्वशास्त्र मर्मज्ञ थे। आचार्य के पिता महाराष्ट्री ब्राह्मण थे, जो विदर्भ के रहने वाले थे। इनका एक पूर्वज बनारस में रहता था। अतः यह भी वहीं जाकर रहने लगे। वह संगीतादि कलाओं के भी विशेषज्ञ थे। इस प्रकार जबकि इनको माता के प्रेम से वञ्चित रहना पड़ा, फिर भी महान् एवं विद्वान् पिता के सान्निध्य से इन पर ज्ञान का अधिक प्रभाव पड़ा।

शिक्षा एवं आचार्य पदवी :-

बनारस के ''क्वीनजकालेज'' में इनकी शिक्षा-दीक्षा सम्पन्न हुई जो आजकल संस्कृत विश्वविद्यालय के नाम से प्रसिद्ध है। 12 वर्ष की आयु में ही इनके पिता की छत्र-छाया भी इनसे छिन गई और वह शिवधाम को प्राप्त हो गए।

आचार्य के पिता के स्वर्गवास के पश्चात् इनके परिवार की पूरी जिम्मेवारी भी इनके कंधों पर आन पड़ी। इनके घर में

---

1. ''सामरस्य समुल्लासः श्रीराधाकृष्णयोः पराः।
अध्मात्माऽमृतासारि-वाग्भवो जयताच्चिरम्।।'' (प० शि० स्तो० श्लो० 3)
2. ''पञ्चकृत्यमिषान्नित्यं स्फारयन् स्वांशां कलाम्।
शिवो वरकलो वैद्यनाथो विजयतां सदा।।'' प० शि० स्तो० श्लो० 4

आजीविका का भार वहन करने वाला दूसरा कोई नहीं था। यह बहुत परिश्रमी, स्वावलम्बी एवं स्वाभिमानी थे। जिस भी कार्य को करने की सोचते थे, उसे करके ही विश्राम लेते थे। अपने इन्हीं नैसर्गिक गुणों के बल पर इन्होंने अपने चाचा ''मथुरेश्वर वर्कले'' से संस्कृत का अध्ययन किया एवं तीव्र बुद्धि के प्रभाव से जल्दी ही उसमें निष्णात हो गये। इनको छात्रवृत्ति भी पाँच रूपये मासिक मिलती थी और उसी के माध्यम से गृहकार्य का सुचारू रूप से प्रबन्ध कर लेते थे। इन्होंने जीवन–यात्रा के लिए किसी अन्य व्यक्ति के आगे हाथ नहीं फैलाये। इसलिए अपने बलपौरुष से उपार्जित धन से ही निर्वाह करते थे।

आचार्य ने धर्मशास्त्र तथा व्याकरणशास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थों का अध्ययन ही नहीं किया था, अपितु आचार्यपदवी को भी प्राप्त किया था।

गुरू :– आचार्य अमृतवाग्भव जी को श्री विद्या की मन्त्र दीक्षा बचपन में उपनयन संस्कार के ही समय अपने पिताजी से प्राप्त हुई थी। अपने पिता से ही इन्हें शैव–दर्शन के सिद्धान्तों का सामान्य ज्ञान भी प्राप्त हो गया था। उच्च शिक्षा के लिए जब वे 'कवीनज कालेज' में व्याकरण शास्त्री की कक्षाओं में अध्ययन करते थे, तो कालेज के तात्कालिक प्रिंसिपल महामहोपाध्याय श्री गोपीनाथ कविराज जी की प्रेरणा से इन्होंने शैव–दर्शन के कुछ ग्रन्थों का अध्ययन किया। इनके अतिरिक्त महान् शैवाचार्य अभिनवगुप्त के परमार्थसार, भोज के तत्त्वप्रकाश और महेश्वरानन्द के महार्थमञ्जरी परिमल को भी पढ़ा, अपने पिता द्वारा प्रदत्त श्री विद्यामन्त्र के अनुष्ठान के प्रभाववश भगवती की प्रसन्नता से ही महामुनि भगवान् दुर्वासा ने अपार अनुग्रह करते हुए साक्षात् दर्शन दिए। इन्होंने अपने परम सद्गुरू दुर्वासा के

प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करते हुये कहा है कि उनकी कृपा दृष्टि से ही इनको शिवभाव की प्राप्ति एवं भवताप की निवृत्ति हुई। इसलिए यह सदा तन्मयभाव में रहते हुए उनकी अनुकम्पा के भाजन बने रहते थे।[1] आचार्य महोदय ने इनको करुणा के समुद्र, लोक द्वारा पूजित, अत्रिमुनीश्वर के पुत्र और कोपभट्टारक संज्ञक गुरू के रूप में स्मरण किया है।[2] इन्होंने इन्हें शाम्भवयोग की पूरी दीक्षा भी प्रदान की।

श्री अमृतवाग्भवाचार्य की कृतियाँ :-

आचार्य अमृतवाग्भव एक उच्च कोटि के विद्वान् थे। इन्होंने अपने ज्ञान, विज्ञान, अनुभव, योग-बल एवं साधना से जो भी अर्जित किया था, वह उसे परोपकारार्थ साधारण लोगों की भलाई के लिए सर्वसुलभ करना चाहते थे। यही कारण है कि आचार्य ने अपने उपदेशों को मौखिक रूप तक ही सीमित नहीं रखा, प्रत्युत् अपने उपदेशों को लिखित रूप भी दिया ताकि वह अक्षुण्ण भी रह सके। जिस प्रकार मेघ समुद्र से जल का ग्रहण किसी स्वार्थवश नहीं करता है, अपितु संतप्त धरती और प्राणियों की शान्ति के लिये उसका विसर्जन करता है, उसी प्रकार सत्पुरुष स्वाभाविक रूप से परोपकारी होते हैं। उनका अपना स्वार्थ कुछ नहीं होता, अपितु निष्काम भावना से ही वह जो कुछ भी ग्रहण करते हैं, वह परजनहितार्थ ही होता है। आचार्य ने अपने जीवनकाल में बहुत सी कृतियाँ लिखी, जो प्रमुखतया धर्म, राजनीति, दर्शन, भक्ति और राष्ट्रीय एकता की विचारधारा से ओतप्रोत थी।

---

1. "शिवाप्तिकारणं तापवारणं लालित हृदि।
द्वयं गुरोश्चरणयोरद्वयं स्फुरतान्मम।।" प० शि० स्तो० श्लो० 1
2. "वन्देऽत्रिनन्दनं विश्ववन्दितं करूणार्णवम्।
कोपभट्टारकं पूर्णयोगदीक्षाप्रदं गुरूम्।।" तदेव 2

आचार्य अमृतवाग्भव द्वारा विरचित कृतियों के नाम इस प्रकार से हैं :–

1. परमशिवस्तोत्र
2. महानुभवशक्तिस्तव
3. परशुरामस्तोत्रम्
4. अमृतस्तोत्र संग्रह
5. वस्तु–स्थिति प्रकाश
6. आत्मपरिचय
7. सूक्ति लहरी
8. सिद्धमानव दर्शनम्
9. चारूसन्देश
10. बालाम्बास्तव
11. असम्पादित श्लोकसंग्रह
12. पिकप्रत्युक्ति
13. अमृतसूक्तिपञ्चाशिका
14. संक्रान्ति पञ्चाशिका
15. आत्मविलास
16. महानुवशक्तिस्तव
17. सिद्धमहारहस्यम्
18. त्रिगुणेश्वर स्तोत्रम्
19. विंशतिका शास्त्र
20. मन्द्राक्रान्ता
21. देवी स्तोत्रम्
22. पवननन्दनाष्टकम्
23. रामाश्वघाटीस्तव
24. परशिवाष्टकम्
25. बालकृष्ण दशकम्
26. प्रभोशम्भो प्रार्थना
27. स्वाध्यायमहिम स्तोत्रम्
28. सप्तपदीहृदयम्
29. अवधूताभिवादनम्
30. राष्ट्रालोक
31. राष्ट्रसंजीवन भाष्य
32. बालकमांपाहि
33. महागुरू श्रीकृष्ण स्तोत्र
34. आपूपिकेश्वर स्तोत्रम्
35. संजीवनी दर्शनम्
36. देशिक दर्शनम्
37. श्रीकृष्णगीतदशकम्
38. कृतध्न मित्रं प्रतिपत्रम्
39. वरकलवंशवृत्तम्

द्वितीय अध्याय

स्वातन्त्र्यदर्पणकार का दार्शनिक अवदान

द्वितीय अध्याय

स्वातन्त्र्यदर्पणकार का दार्शनिक अवदान –

(क) पं० बलजिन्नाथ का जीवन परिचय, स्थितिकाल एवं व्यक्तित्व

कश्मीर प्रदेश सुन्दर घाटियों, बर्फीलें पर्वतों, घने जंगलों, शीतल झरनों, कलकल बहती सुन्दर नदियों, लहलहाते हरियावल खेतों के सुरम्य दृश्यों से ही सदा देखने वालों के मन को मोह नहीं लेते रहे हैं, बल्कि सूफी सन्त फकीरों, सिद्ध महापुरुषों और विद्वानों के आध्यात्मिक लोक कल्याण हेतु योगदानों से भी अति प्रभावित रहे हैं। सामान्य रूप से तो साहित्य के हर क्षेत्र में यहाँ का योगदान रहा है परन्तु विशेषकर अद्वैत शैव दर्शन के सन्दर्भ में अति महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। जहां एक और स्वयं भगवान् शिव श्रीकण्ठनाथ के रूप में दुर्वासा के माध्यम से त्रयंबक मठिका के प्रस्थापन हेतु सोमानन्द, उत्पलदेव, लक्ष्मणगुप्त, अभिनवगुप्त, क्षेमराज आदि शैवाचार्यों को प्रेरित करते रहे हैं, जिससे उन्होंने अपनी योग साधना और विद्वत्ता के बल पर शैव दर्शन का प्रचार–प्रसार किया और अज्ञान अन्धकार में डूबे हुए जनों को परमार्थ ज्ञान का प्रकाश प्रदान किया, वहीं दूसरी ओर इन आचार्यों के पश्चात् एक प्रकार से इस दर्शन के प्रचार–प्रसार में विराम सा आ गया है। परन्तु इस विराम काल में भी शिव इच्छा से भिन्न–भिन्न कालों में गिने–चुने विद्वानों ने इस ज्ञान के दीपक को जलाये रखने में भरसक प्रयास किया। ऐसे ही विद्वानों में से एक डॉ० बलजिन्नाथ पण्डित हुए हैं, जिनका जन्म 1915 (16) ई० प० तत्कालीन दक्षिण कश्मीर के अनन्तनाग जिला के कुलगाम गांव (आधुनिक जिला) में कश्मीर की सुन्दर घाटी में हुआ। यह स्थान जम्मू से श्रीनगर जाने वाले राजमार्ग के मार्ग में पड़ने वाले जवाहर सुरंग के पार

खन्नाबल–काजीकुण्ड से शोपियाँ की ओर जाने वाले मार्ग पर स्थित है।

पण्डितजी के पिता का नाम आफताबराम पण्डित और माता का नाम श्रीमती अमरावती था। यह अपने छः भाईयों में से तीसरे स्थान पर थे और इनकी कोई सगी बहन नहीं थी। इनके माता पिता एक बड़े ही सरल, साधारण और धार्मिक स्वभाव के थे और अपना तथा परिवार का जीवन निर्वाह अपनी खेती–बाड़ी से चलाते थे। इनके सेब, अखरोट और बदाम के बाग भी थे। इनका बचपन अपने ग्रामीण वातावरण में ही प्रसन्नतापूर्वक सम्पन्न हुआ। 1936 ई० प० में पं० बलजिन्नाथ जी का विवाह श्रीमती कमलावती पण्डित (तुलसी रैना) से हुआ, जो देवसर गांव के श्री वासुदेव और श्रीमती बोऽमाल रैना की सुन्दर कन्या थी। पं० बलजिन्नाथ जी के दो लड़के और चार लड़कियाँ थी। सबसे बड़ी लड़की श्रीमति कान्ता का विवाह उमानगरी कश्मीर के श्री डी० एन० पण्डित से हुआ, वर्तमान में जिनका निवास पंचकुला (हरियाणा) में है। दूसरी सन्तान श्री कृष्ण पण्डित (ज्येष्ठ पुत्र) का विवाह श्रीमति श्रीकृष्णा से हुआ, जो इस समय भिवादी (राजस्थान) में रह रहे हैं। तीसरी सन्तान श्रीमति मोहिनी (पुत्री) का विवाह श्री बी० एल० पण्डित से हुआ जो गुड़गांव (हरियाणा) में है। चौथी सन्तान डा० ललिता (पुत्री) का विवाह डा० पैट्रिक होगां से हुआ जो अमेरिका में निवसित हैं। पण्डितजी की पाँचवी सन्तान डा० गिरिजा शर्मा (पुत्री) का विवाह डा० बी० एन० शर्मा से हुआ, जो इस समय मण्डी (हिमाचल प्रदेश) में रह रहें हैं। अन्तिम सन्तान डा० पी० एन० पण्डित का विवाह डा० संगीता पण्डित से हुआ, जो मोहाली (पंजाब) में रह रहें हैं।

इनकी प्रारम्भिक और माध्यमिक शिक्षा अपने ही गांव के विद्यालय में सम्पन्न हुई है। इन्होंने दसवीं की परीक्षा उसी विद्यालय से बड़ी ही छोटी ही आयु में उत्तीर्ण कर ली क्योंकि यह असाधारण प्रतिभा सम्पन्न थे।

माता–पिता की इच्छा एवं अपने संस्कृत के प्रति अटूट अनुराग के कारण इनकी पारंपरिक शिक्षा श्री रघुनाथ संस्कृत पाठशाला जम्मू में सम्पन्न हुई, जहां पर इन्होंने प्राज्ञ, विशारद और शास्त्री तीनों प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की। इस परीक्षा में इन्होंने पंजाब विश्वविद्यालय लाहौर में (जिससे यह पाठशाला मान्यता प्राप्त थी) प्रथम स्थान प्राप्त किया।

इन्होंने अपनी उच्च शिक्षा बी० ए० तथा उसके पश्चात् एम० ए० भी पंजाब विश्वविद्यालय लाहौर से ही 1946 ई० में उत्तीर्ण की। बहुत बाद 1967 में काश्मीर शैव दर्शन में पी० एच० डी० की उपाधि भी पंजाब विश्वविद्यालय से की। इनके शिक्षा गुरूओं में श्रीनगर के पण्डित आनन्द काक शास्त्री और जम्मू के पण्डित काका राम शास्त्री प्रमुख थे। आध्यात्मिक क्षेत्र में वाराणसी के विद्वान् महापुरुष अमृतभाग्वाचार्य इनके गुरु रहे हैं।

1939 ई० प० संस्कृत पाठशाला रैना बाड़ी, श्रीनगर में संस्कृत शिक्षक के रूप में नियुक्त हुए। 1940 ई० में संस्कृत पाठशाला पठानकोट (पंजाब) में मुख्य पण्डित के रूप में नियुक्त हुए। पुनः मुख्य पण्डित के रूप में 1941 में संस्कृत पाठशाला दिलावरखान बाग, श्रीनगर में नियुक्त हुए। 1943 ई० में मुख्य अध्यापक के रूप में पुलवामा हाई स्कुल में नियुक्त हुए। 1945 ई० में उस समय के प्रतिष्ठित महाविद्यालय श्री प्रताप कालेज श्रीनगर में संस्कृत के प्रवक्ता नियुक्त हुए।

1953 ई० में डिग्री कालेज अनन्तनाग में संस्कृत के प्रवक्ता के रूप में स्थानान्तरण हुआ, इसके बाद 1961 ई० में इनका स्थानान्तरण डिग्री कालेज सोपोर में हुआ और इसके बाद पुनः 1964 में डिग्री कालेज अनन्तनाग स्थानान्तरण हुआ। 1967–68 ई० में शोध निर्देशक के रूप में शैव संस्थान ईश्वर श्रीनगर में नियुक्त हुए। 1972 ई० में हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय, शिमला में प्राचार्य पद पर नियुक्त हुए। 1979 ई० से 1990 ई० तक प्राजेक्ट निर्देशक के रूप में शैव दर्शन शोध संस्थान श्री रणवीर संस्कृत विद्यापीठ, जम्मू में कार्यरत रहे।

1990 ई० के बाद पण्डित जी मुक्तबोध इण्डोलाजीकल रिसर्च इन्सटिच्यूट, गणेशपुरी, मुम्बई के सदस्य बने, जहां इन्होंने ''ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका'' पर पाश्चात्य छात्रों के समूह को ज्ञानवर्धक व्याख्यान दिए।

इस प्रकार हम देखते हैं कि डॉ० बलजिन्नाथ पण्डित ख्यातिलब्ध प्रतिष्ठित विद्वान् थे, जिनका काश्मीर शैव दर्शन के पारम्परिक आधुनिक विद्वानों में नाम अग्रगण्य है। काश्मीर शैव दर्शन के प्रचार–प्रसार में इन्होंने अपनी कृतियों एवं भाष्य रचनाओं के माध्यम से महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। उनकी इसी विद्वत्ता को दृष्टिकोण में रखकर 1987 ई० में राष्ट्रपति सम्मान, 1994 ई० में जम्मू कश्मीर संस्कृत अकादमी की ओर से विशिष्ट सेवा सम्मान पत्र, 1995 ई० में उत्तर–प्रदेश संस्कृत संस्थान लखनऊ की ओर से संस्कृत साहित्य पुरस्कार सम्मान से सम्मानित किया गया। इनका शिवधाम गमन सात सितंवर 2007 ई० में मण्डी हिमाचल प्रदेश में हुआ। इनकी पत्नी का भी चार माह के बाद स्वर्ग गमन हो गया।

(ख) कृतियाँ –

डॉ० बलजिन्नाथ पण्डित एक प्रभावशाली लेखक रहे हैं जिनका रचना क्षेत्र संस्कृत हिन्दी ओर आंगल भाषा रहा है जिसमें यह शैव दर्शन विषयक महत्त्वपूर्ण लेख लिखते थे। इनकी बहुत सी मूल और भाष्य रचनाएँ हैं जो इस प्रकार हैं –

हिन्दी रचनाएँ –

1. **काश्मीर शैव दर्शन –** काश्मीर शैव दर्शन इनकी दर्शन शास्त्र की अमूल्य रचना है जिसमें इन्होंने काश्मीर शैव दर्शन का परिचय मूल स्रोत, विकास, अन्य दर्शनों की स्थिति, स्वातन्त्र्य सिद्धान्त, स्पन्द सिद्धान्त, विशुद्ध सृष्टि, अशुद्ध सृष्टि, गुणमय सृष्टि, प्रमातृ वर्ग, बन्धन और मुक्ति, शैव धर्म, शैवी साधना, शाक्त दृष्टि, सार तत्त्व एवं पारिभाषिक शब्दकोश वर्णन किया है।

2. **वैष्णवी देवी रहस्य –** वैष्णवी देवी के सम्बन्ध में इनके अतिरिक्त अन्य लेखकों ने जो सामग्री अपनी रचनाओं में दी है, पण्डितजी की इस रचना में उनसे विल्कुल भिन्न रूप से जानकारी दी गई है। इन्होंने किंवदन्तियों, दन्त कथाओं और अन्धविश्वास से हटकर के यह सिद्ध करने की कोशिश की है कि वैष्णवी शक्तियों में से एक हैं और उनके पास ही भैरवनाथ (शिव) का निवास है अर्थात् पूरे विवरण को शैव दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया गया है।

3. **श्रीमद् अमृतभाग्भवाचार्य चरितामृतम् –** इस रचना में इन्होंने अपने गुरु के जीवन, स्थिति, शिक्षा, दिक्षा, व्यक्तित्व और मुख्य रूप से उनके दार्शनिक शैव दृष्टिकोण को प्रस्तुत किया है।

4. **ललिता स्तवरत्नटीका –** इस रचना में कश्मीरियों में प्रसिद्ध और देवी स्थानों में प्रायः पठित भगवती ललिता के स्तव की

प्रभावपूर्ण हिन्दी व्याख्या की है जो श्रद्धालुओं के लिए अति महत्त्वपूर्ण है।

संस्कृत रचनाएँ –

5. स्वातन्त्र्यदर्पण एवं टीका – 'स्वातन्त्र्यदर्पण' दर्शन के क्षेत्र में इनकी अमूल्य रचना है जो संस्कृत में लिखी गई है, जिसके साथ–साथ टीका भी संस्कृत में ही दी गई है। इसमें इन्होंने काश्मीर शैव दर्शन का इतिहास पक्ष देते हुए शैव दर्शन के कश्मीर में अवतरण सहित इस दर्शन के प्रमुख आचार्यों का भी स्मरण किया है। तत्पश्चात् परमशिव, षट्त्रिंशत्तत्त्व, माहैश्वर्य, नास्तिकवादपरीक्षा, वादान्तरदिग्दर्शन, वादान्तरदोषप्रदर्शन, स्वातन्त्र्य सिद्धान्त, प्रमातृभेद, प्रत्यभिज्ञोपाय, उपसंहार, परिभाषालक्षणकोष शीर्षकों के अन्तर्गत काश्मीर शैव दर्शन के सम्बन्ध में समस्त विषयों को सरल एवं सुबोध ढ़ग से प्रस्तुत करने का स्तुत्य प्रयास किया है।

6. शैवाचार्य नागार्जुन – इनकी इस रचना में पण्डित जी ने बौद्ध नागार्जुन से शैवाचार्य नागार्जुन को पृथक् व्यक्तित्व सिद्ध करने का सराहनीय प्रयत्न किया है। इसके साथ–साथ उनके जीवन और दर्शन पर भी प्रकाश डाला है।

7. श्री आत्मविलासविमर्शिनी – इनकी इस रचना में इनके गुरू द्वारा लिखित आत्मविलास की कारिकाओं पर विद्वत्तापूर्ण विमर्शिनी संज्ञक व्याख्या लिखी गई है। इसमें विशेष कर आत्म महेश्वर के स्वातन्त्र्य, परिपूर्णता, सर्वशक्तिमत्ता और विश्वोत्तीर्ण विश्वमय स्वरूप का वर्णन करते हुए अन्य मतों के आत्मा विषयक मतों का विशलेषण करके खण्डन किया गया है।

8. काश्मीर शैव दर्शन कोष – इनकी यह रचना काश्मीर शैव दर्शन के पारिभाषिक शब्दों की शैव दृष्टिकोण से व्याख्या प्रस्तुत

करती है। इसका अथक प्रयास रहा है कि शैव दर्शन के सम्बन्ध में इस दर्शन के प्रेमियों एवं जिज्ञासु पाठकों को शैवाचार्यों की रचनाओं में प्रयुक्त शब्दावली के अर्थबोध में कोई समस्या न रहे अर्थात् वे आसानी से उसे समझ सकें।

आंगल भाषा में लिखित रचनाएँ –

9. **Aspects of Kashmir Shaivism** – आंग्ल भाषा में लिखित पण्डित जी की यह रचना विशेष कर पाश्चात्य दर्शन प्रेमियों को दृ ष्टिकोण में रखकर लिखी गई है, सामान्यतः कोई भी इसे पढ़ सकता है और काश्मीर शैव दर्शन के सिद्धान्तों को सरलता से समझ सकता है।

10. **History of Kashmir Shaivism** – इस रचना में पण्डित जी ने काश्मीर शैव दर्शन के आविर्भाव और विकास के वर्णन सहित इस दर्शन के रहस्य ज्ञान का किस प्रकार दैवी सत्ता से देवों, सिद्धों, ऋषि–मुनियों और मानवों प्रयन्त संक्रमण हुआ इत्यादि–इत्यादि बातों का विवरण दिया है।

11. **The Essence of Exact Reality** – इस रचना में परमार्थ सत्ता के सार तत्त्व के सम्बन्ध में युक्तिपूर्वक विवरण दिया गया है कि इस जगत् में एक मात्र परमसत्ता शिव है जो शक्ति से अभिन्न है। वह विश्वोत्तीर्ण एवं विश्वमय है। समस्त जगत्, बन्ध–मोक्ष, सृष्टि–संहार सब उसके स्वातन्त्र्य का विलास हैं। वह ही पति और वह ही पशु है। सब शिवमय है।

12. **The mirror self supremacy** – इस रचना में आत्मा के स्वातन्त्र्य का प्रकाशन दिया गया है। वास्तव में आत्मा क्या है और किस प्रकार अपने स्वरूप और ऐश्वर्य के विपरीत अज्ञान की दशा में बन्धन तथा ज्ञान की दशा में मुक्ति का अनुभव

होता है, इन सब तथ्यों का दर्पण में प्रतिबिम्ब की तरह दृष्टान्त पूर्वक वर्णन किया गया है।

13. **Specific principles of Kashmir Shaivism** – इस रचना में काश्मीर शैव दर्शन के प्रमुख सिद्धान्तों का वर्णन किया गया है, जिनमें स्वातन्त्र्यवाद, स्पन्दवाद, बिम्बप्रतिबिम्बवाद, आभासवाद, चित्सत्कार्यवाद आदि मुख्य हैं। इनके साथ-साथ दूसरे दर्शनों के मान्य स्वर्गवाद, आरम्भवाद, सत्कार्यवाद (प्रकृतिवाद), विज्ञानवाद, शून्यवाद, मायावाद और असत्कार्यवाद आदि सिद्धान्तों का युक्तिपूर्वक खण्डन किया गया है।

14. **Isvara Pratyabhijnā Kārikā** – प्रसिद्ध कश्मीर शैवाचार्य उत्पलदेव की यह अतिमहत्त्वपूर्ण रचना पर पण्डितजी द्वारा लिखित आंगल भाषा में व्याख्या इस दर्शन में रुचि रखने वालों अथवा प्रत्यभिज्ञा सिद्धान्त को समझने में महत्त्वपूर्ण सहायता प्रदान करती है। प्रत्यभिज्ञा सिद्धान्त के अनुसार वास्तव में जीव शिव रूप है, अज्ञान से अपने आप को दीन-हीन समझता है, जैसे शेर का बच्चा भेड़ों की संगति में स्वयं को दीन-हीन समझता है। लेकिन ज्ञान होने पर वही बच्चा अपने को सिंह की तरह बलवान समझता है। वैसे ही ज्ञान होने पर जीव पुनः अपने आपको शिव के रूप में पहचान लेता है।

इन्होंने अमृतवाग्भवाचार्य की आत्मविलास आदि लगभग 39 रचनाओं पर भाष्य लिखा है।[1]

---

1. शि० आय० पृ० 32-46

तृतीय अध्याय

स्वातन्त्र्य दर्पण और परमसत्ता

तृतीय अध्याय

स्वातन्त्र्य दर्पण और परमसत्ता

(क) परमेश्वर का स्वरूप :

स्वातन्त्र्य दर्पण के अनुसार अद्वैत शैवसम्मत परमसत्ता को परमशिव, शिव, परासंवित्, पराचिति, आत्मा, पराशक्ति आदि नामों से अभिहित किया गया है। वह परमेश्वर स्वतन्त्रस्वरूप है। सब की आत्मा है एवं स्वतः सिद्ध है।[1]

प्रत्यभिज्ञाहृदयम् के अनुसार भी चिति स्वतन्त्ररूपा बतलाई गई है।[2] शिव सूत्रों में भी आत्मा को चैतन्य रूप माना गया है।[3] यह आत्मा प्रकाश एवं विमर्श का सामरस्यरूप मानी गई है। प्रकाश (ज्ञान) को ही शिव और विमर्श (क्रिया) को शक्तिरूप कहा गया है।[4] जिस प्रकार अग्नि से ऊष्णत्व और जल से शीतलत्व पृथक् नहीं हो सकते, वैसे ही शिव और शक्ति कदापि पृथक् नहीं होते। प्रकाश विमर्शस्वभाव होता है। इसलिए प्रकाश और विमर्श के परम सामरस्य को ही स्वातन्त्र्य दर्पण में संवित् कहा गया है। संविन्मय आत्मा (अहमिति) स्वतःसिद्ध कहा जाता है। यह आत्मदेव के स्वातन्त्र्य की इस तथ्य से भी पुष्टि होती है कि सभी प्रमाता स्वतः ही प्रकाशन और विमर्शन में समर्थ होते हैं अर्थात् प्रत्येक प्रमाता को अपनी सत्ता (Existence, अस्तित्व) के साथ–साथ अपनी अनुभूति (Awareness, प्रतीति) रहती ही है। कोई भी बुद्धिमान् अथवा मूर्ख भी अपनी सत्ता के सम्बन्ध में ''मैं नहीं हूँ'' नहीं कह सकता, प्रत्युत् ''मैं हूँ'' ऐसा

---

1. ''परमेश्वरः स्वतन्त्रः सर्वस्यात्मा, सदा स्वतः सिद्ध।'' स्वा० द०, 2/2
2. ''चितिः स्वतन्त्रा विश्वसिद्धिहेतुः'' – प्र० हृ०, सू०–1
3. ''चैतन्यात्मा'' – शि० सू० 1/1
4. ''संविन्मयः स आत्मा, समरसरूपस्तयोः स्वतः सिद्धः। ज्ञानक्रियास्वतन्त्रः।'' स्वा० द०, 2/8

ही अनुभव करता है।[1] यदि परमेश्वर का प्रकाश विमर्शरूप नहीं होता, तो उसमें और एक जड़ पदार्थ में कोई अन्तर नहीं रहता। जैसे जड़रूप दर्पण में प्रकाश तो होता है, लेकिन उसको उसकी अनुभूति नहीं होती।[2] अभिनवगुप्त आचार्य ने भी 'तन्त्रालोक' में ऐसा ही मत अभिव्यक्त करते हुए कहा है कि यदि महेश्वर विमर्श ऐश्वर्य से शून्य होता, तो घट इत्यादि जड़ पदार्थ तुल्य ही रहता।[3]

(ख) परमेश्वर की शक्तियाँ

स्वातन्त्र्यदर्पण अनुसार परमसत्ता सर्वथा, सर्वदा एवं सर्वतः अनन्त पारमेश्वरी शक्तियों का एकघन स्वरूप है।[4] शिवदृष्टि अनुसार परमशिव की अनन्त शक्तियाँ होने पर भी मुख्य पाँच शक्तियाँ – चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया – मानी गई हैं।[5] परमार्थसार में अभिनवगुप्त अनुसार ये पाँचों शक्तियाँ देवदेव भैरव की हृदयरूप हैं।[6] विज्ञान भैरव अनुसार शिव की प्राप्ति में साधक होने से इन्हें शैवीमुख कहा गया है।[7] इसी

---

1. ''प्रकाशविमर्शयोः परं सामरस्यं संवित्। संविन्मयः आत्माऽहमिति। तस्य च प्रकाशनमेव सुसूक्ष्मं ज्ञानं, विमर्शनमेव च तथाभूता क्रिया। उभयत्र च स्वातन्त्र्यमात्मदेवस्य। यतः सर्वोऽपि प्रमाता स्वत एव प्रकाशितुं विम्रष्टं च शक्तः। को हि प्रज्ञावान् स्वात्मानमपह्नुवीत–नाहमस्मीति। मूर्खोऽप्यात्मानं नापह्नुते।'' स्वा० द० टी०, 2/8
2. ''रूपं निजं प्रकाशो विमर्शशून्यस्त्यजेत्प्रकाशत्वम्।
एवं तथा विमर्शः प्रकाशशून्यस्त्यजेन्निजं सत्त्वम्।।'' स्वा० द०, 2/6
3. ''अस्भास्यदेकरूपेण वपुषा चेद् महेश्वरः।
महेश्वरत्वं संवितत्त्वं तदत्यक्षद् घटादिवत'' – तं० आ०, 3/100
4. ''जयति स हि मे प्रसीदतु, शक्तिघनः कोऽपि पूर्णपरमेशः।'' स्वा० द०, 1/1
5. ''आत्मेव सर्वभावेषु स्फुरन् निर्वृत्तचिद्विभुः।
अनिरुद्धेच्छाप्रसरः प्रसरद्दृक्क्रियः शिवः।।'' शि० दृ० 1/2
6. ''सा चिदानन्दमात्रात्ममग्रेच्छाज्ञानसत्क्रियाः।
हृदयं देवदेवस्य भैरवस्याविभागभूः।।'' प० सा०, श्लो०–5
7. ''शैवी मुखमिहोच्यते।'' वि० भै०, श्लो०–20

प्रकार क्षेमराज ने प्रत्यभिज्ञाहृदयम् में परमसत्ता को चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रियारूप बतलाया हैं।[1]

1. **चित् शक्ति :–** शिव की यह शक्ति प्रकाशस्वरूप के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं होती है।[2] इस प्रकाश से वह (शिव) स्वयं सतत प्रकाशित रहता है, उस समय भी जब शून्य ही शून्य होता अर्थात् जब पदार्थ नाम की कोई भी वस्तु नहीं रह जाती है, जिसे वह प्रकाशित करे। ''प्रकाश को ही अनन्योन्मुख विमर्श ''अहमिति'' कहते हैं।[3]

2. **आनन्द शक्ति :–** परमेश्वर का स्वातन्त्र्य ही उसकी आनन्दशक्ति है। उसे किसी वस्तु की प्राप्ति के लिए चलना तथा प्रयत्न नहीं करना पड़ता। उसका अनन्यमुख स्वातन्त्र्य उसे पूर्ण विश्राम दिये रहता है, इसलिए परमेश्वर (परमशिव) की पूर्ण आह्लादात्मक और मोदात्मक विमर्शरूप स्वातन्त्र्य शक्ति आनन्द शक्ति कहलाती है।[4] यह सदैव अपने में सर्वथा सन्तुष्ट होने से पूर्ण विश्रान्तियुक्त होती है एवं अन्य की अपेक्षा नहीं रखती।[5]

3. **इच्छा शक्ति :–** परमशिव अपनी स्वतन्त्र इच्छाशक्ति से स्वयं अविभक्त रहते हुए भी विश्व को अपने से भिन्न के समान प्रकाशित करता है। शिव अपनी स्वतन्त्र इच्छाशक्ति से, इस संसार के कुछ पदार्थों को ग्राह्य (जड़) रूप में और कुछ को ग्राहक – (चेतन, पशु, परिमित प्रमाता) रूप में प्रकाशित करता है। इसलिये इसे दैवी चमत्काररूपा भी कहा जाता है।[6]

---

1. ''चिदानन्देच्छाज्ञानक्रियाशक्तिरूपत्वे'' – प्र० हृ० टी०, पृ०–59
2. ''प्रकाशरूपता चिच्छक्तिः'' – तं० सा, आह०–1, पृ०–6
3. ''प्रकाशश्च अनन्योन्मुखविमर्शः अहमिति।'' – ई० प्र० वि०, 3/1/4
4. ''स्वातन्त्र्यम् आनन्दशक्तिः।'' प्र० हृ० टी०, पृ०–6
5. ''अन्यनिरपेक्षतैव परमार्थतः आनन्दः।'' – ई० प्र० वि०, भा०–1, पृ०–207
6. ''तच्चमत्कार इच्छाशक्तिः।'' तं० सा०, आह० 1, पृ० 6

4. ज्ञान शक्ति :– शिव की यह वह सामर्थ्य शक्ति है, जिसके द्वारा अपने प्रति एवं परस्पर दूसरों के प्रति सम्बन्ध का अनुभव करता है अर्थात् ज्ञाता–ज्ञेय का ज्ञान होता है। परन्तु मोह के कारण जीव आत्मा के विद्यमान होते हुए भी उसका अनुभव नहीं कर पाता तथा पति दशा की अनुभूति न कर पशु की दशा को ही अपना यथार्थरूप समझ लेता है।[1] इच्छाशक्ति को इसका आधार माना जाता है। इच्छा द्वारा परिणमित आमर्शात्मिकता ही ज्ञानशक्ति कहलाती है।[2]

5. क्रिया शक्ति :– प्रत्येक प्रकार का अर्थात् किसी भी प्रकार का रूप धारण करने की सामर्थ्य को 'क्रिया शक्ति' कहते हैं।[3] यह समस्त विश्व–प्रपञ्च 'क्रिया शक्ति' का ही विकास है।[4] शिव जिस शक्ति द्वारा विश्वात्मकभाव से विविध भावों (पदार्थों) का पार्थक्य अवभासित करते हैं – वह "भासना शक्ति" ही क्रिया शक्ति अभिहित होती है।[5]

(ग) परमेश्वर के कार्य :–

डॉ० बी० एन० पण्डित अनुसार शैव शास्त्रों में महेश्वर का पञ्चविध कृतत्व माना गया है, जो सृष्टि, स्थिति, संहार, पिधान (निग्रह, तिरोधान) और अनुग्रह भेद से संज्ञित है।[6] राजानक क्षेमराज ने प्रत्यभिज्ञा हृदयम् में इस मत की पुष्टि की है[7] और

---

1. "किन्तु मोहवशादस्मिन्दृष्टेऽप्यनुपलक्षिते।
   शकत्याविष्करणेनेयं प्रत्यभिज्ञोपदर्श्यते।।" ई० प्र० का०, 1/3
2. "आमर्षात्मकता ज्ञानशक्ति।" तं० सा०, आह० 1, पृ०–6
3. "सर्वाकारयोगित्वं क्रियाशक्ति।" तं० सा०, आह० 1, पृ०–6
4. "क्रियाशक्तेरेव अयं सर्वो विस्फारः।" ई० प्र० वि०, भा०–2, पृ०–42
5. "भासना च क्रियाशक्तिरिति शास्त्रेषु कथ्यते।" मा० वि० तं०, 1/90
6. "पञ्चविधत्वं शास्त्रे, माहैश्वर्यस्य सम्मतं शैवे।
   सृष्टिस्थितिसंहाराः पिधानमनुग्रहश्च तद्भेदाः।।" स्वा० द०, 4/12
7. "नमः शिवाय सततं पञ्चविद्यकृत्यविधायिने।" प्र० हृ० मं० श्लो०–1

स्वच्छन्दतन्त्र आदि शैवागमों में तो निरन्तर इस पञ्चविध माहेश्वर्य (कृतत्व) को प्रतिपादित किया गया है।[1]

1. **सृष्टि** :– बहिर्मुखीभाव के अवसर पर जब चिन्महेश्वर नीलादि अन्तः स्थित विषयों को नियत देश, काल और आकारादि के रूप में अवभासित करते हैं, तब नियत देश काल आदि में जो अवभासित होता है – वह उनकी सृष्टिक्रिया कहलाती है। इसमें अव्यक्तरूप को व्यक्त किया जाता है, न कि कोई नवीन वस्तु उत्पन्न की जाती है।[2]

2. **स्थिति** :– उस नीलादि के आभास का बना रहना, उसकी स्थितिक्रिया कहलाती है अर्थात् विद्यमान को स्थिर करना स्थिति क्रिया है।[3]

3. **संहार** :– विषयों का अन्य देश और काल में आभासित होना उनकी संहारक्रिया है अर्थात् व्यक्त को अव्यक्तरूप में ले जाना उनकी संहारक्रिया है, न कि किसी वस्तु का सर्वथा विनाश करना।[4]

4. **विलय** :– भेद से आभासित होना उनकी विलय क्रिया है अर्थात् अपने पूर्णस्वरूप को छिपाकर मायावश अपूर्णस्वरूप (जीव, बद्ध, अणुरूप) समझना एवं जगत् को अपने से पृथक् रूप में जानना–उनकी तिरोधान क्रिया है।[5]

5. **अनुग्रह** :– विषयों का चित्प्रकाश के साथ तादात्म्य से स्फुरित होना, परमसत्ता की अनुग्रह क्रिया कहलाती है। तात्पर्य

---

1. "सृष्टिसंहारकर्तारं विलयस्थितिकारकम्।
अुग्रहकरं देवं प्रणतार्तिविनाशनम्।" स्वच्छ० तं०, 1/3
2. "चिद्रपो महेश्वरो बहिर्मुखीभावासरे नीलादिकमर्भं नियतदेशकालादितया यदा आभासयति तदा नियतदेशकालाद्या भासांशे अस्य स्रष्ठता।"
प्र० हृ० टी०, सू० 10
3. "नीलाद्याभासांशे स्थापकता" – प्र० हृ० टी०, सू० 10
4. "अन्यदेशकालाद्याभासांशे अस्य संहर्तृता" – प्र० हृ० टी०, सू० 10
5. "भेदेन आभासांशे विलयकारिता" – प्र० हृ० टी०, सू० 10

यह है कि गुरू, शास्त्र के उपदेश अथवा स्वयं के प्रातिभ बल द्वारा सर्वत्र सभी के साथ ऐक्य का अनुभव करना उनकी अनुग्रहक्रिया कहलाती है।[1] भगवान् के ये पाँच प्रकार के ऐश्वर्य ही शास्त्रों में पञ्चकृत्य कहे गए हैं, जो सदा चलते रहते हैं। ये सब परमेश्वरी शक्ति की स्वातन्त्र्य विलास लीला में चलते रहते हैं, जिनको कोई भी रोक नहीं सकता।[2]

(घ) परमेश्वर का निमित्त–उपादान कारणत्व :–

स्वातन्त्र्यदर्पण में कहा गया है कि परमेश्वर जगत् का निमित्त और उपादान कारण स्वयं ही है। न्याय–वैशेषिकों के परमाणु उपादान कारण, वैष्णव–सांख्य आदि के प्रकृति उपादान कारण, बौद्धों के शून्य उपादान कारण और वेदान्तियों के माया उपादान कारण का निराकरण करके परमेश्वर द्वारा विना निमित्तोपादान कारण के स्वयं ही अपनी शक्ति द्वारा समस्त विश्व–अवभासन को दर्पणनगर प्रतिबिम्बवत् माना गया है,[3] जैसे कि राजानक क्षेमराज अनुसार भी विश्वाभासन के समय परमशिव अपने से अभेदरूप में अवस्थित प्रमाता और प्रमेयों (तत्त्वों) को अपनी स्वातन्त्र्यशक्ति की महिमा से अपने को ही आधार बनाकर[4] नगर–दर्पणवत् पृथक् की भाँति उन्मीलन करते हैं।[5] अभिनवगुप्त अनुसार परमेश्वर की इच्छा ही जगत् का कार्य एवं कारणभाव बनती है।[6] प्रत्यभिज्ञाहृदय अनुसार शैव दर्शन में

---

1. ''प्रकाशैक्येन प्रकाशने अनुग्रहीतृता।'' तदैव
2. ''पञ्चेमानि हि शम्भोः, कृत्यानि सदा निरर्गलानीह।
प्रचलन्ति भावजाते सततं सुविचित्ररूपया शक्त्या।।'' स्वा० द०, 4/13
3. ''आरभमाणः सततं निरूपादानं स्वतो जगत् सकलम्।
शक्त्या स्वयापरिणमन् बिभ्रत्, प्रतिबिम्बकल्पमिव विश्वम्।।'' स्वा० द०, 1/2
4. ''स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति।'' प्र० हृ०, सू०–2
5. ''विश्वं दर्पणे नगरवत् अभिन्नमपि भिन्नमिव उन्मीलयति।''तदैव टी०, सू०–2
6. ''कार्यकारणभावो यः शिवेच्छापरिकल्पितः'' तं० आ०, 9/7

कार्यकारणभाव परमार्थरूप से चिति भगवती ही है, क्योंकि वही नाना रूपों में अभिव्यक्त होती है।[1]

(ङ) परमेश्वर का स्वतः सिद्धित्व :–

परमेश्वर स्वतन्त्र, सर्वात्मा एवं सदा स्वतःसिद्ध है। उसको किसी भी प्रमाण अथवा शास्त्र आदि के विमर्श द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता। वे केवल उसके सम्बन्ध में अज्ञान अन्धकार को दूर कर सकते हैं।[2] क्योंकि किसी भी वस्तु की सत्ता प्रमाता के बुद्धिरूपी दर्पण में प्रतिबिम्बित हुए बिना प्रकाशित नहीं होती, प्रत्युत् उसकी स्थापना में उसका प्रकाश ही कारण होता है। इस चैतन्यात्मक प्रकाश की कोई दूसरी वस्तु प्रकाशक अथवा साधक नहीं होती। सभी अपने प्रकाशरूप स्वात्मा का बिना किसी दूसरे कारण के स्वयं ही अनुभव करते हैं, जैसे "मैं हूँ" – अतः आत्मा स्वतः सिद्ध है।[3] ऐसे ही राजानक क्षेमराज ने प्रत्यभिज्ञाहृदय एवं शिवसूत्रविमर्शिनी में बतलाया है कि स्वतः सिद्ध स्वात्ममहेश्वर को कोई देश, काल, आकार की सीमा में सीमित नहीं किया जा सकता और न ही प्रमाण से सिद्ध किया जा सकता है, क्योंकि वे उसी की सत्ता से प्रकाशित होते हैं।[4]

---

1. चिदेव भगवती स्वच्छस्वतन्त्ररूपा तत्तदनन्तजगदात्मना स्फुरति, – इत्येतावत्परमार्थोऽयं कार्यकारणभावः।" प्र० हृ० टी०, सू०–2
२. "परमेश्वरः स्वतन्त्रः सर्वस्यात्मा, सदा स्वतःसिद्ध। शास्त्रालोकस्तु परं प्रहाणये मोहजालतिमिरस्य।।" स्वा० द०, 2/2
३. "यद्यल्लोके सिद्धं तत्तत्सर्वं, प्रकाशमाहात्म्यात्। स्वमहिम्नैव तु सिद्धः सिद्धेर्मूलं सदा प्रकाशोऽसौ।।" स्वा० द०, 2/3
४. "यतश्च इयमेव प्रमातृप्रमाणप्रमेयमयस्य विश्वस्य सिद्धौ – प्रकाशने हेतुः ततोऽस्याः स्वतन्त्रापरिच्छिन्नस्व प्रकाशरूपायाः सिद्धौ अभिनवार्थप्रकाशनरूपं न प्रमाणवराकमुपयुक्तम् उपपन्नं वा।" प्र० हृ० टी०, सू०–1 एवं शि० सू० वि०, सू०–1

(च) विश्वोत्तीर्ण – विश्वमयत्व :–

परमेश्वर विश्वोत्तीर्ण एवं विश्वमय माना गया है। परमेश्वर की स्पन्दात्मक अन्तर्मुखी स्फुरत्ता शिवत्व अथवा विश्वोत्तीणत्व कहलाती है और बहिर्मुख स्फुरत्ता शक्तित्व अथवा विश्वमयत्व कहलाती है [1] अर्थात् परमसत्ता की वह अवस्था जिसमें प्रमाता, प्रमाण और प्रमेयरूप विश्व उसके प्रकाशैक्य से अभेद रूप में भासित होता है, उसको विश्वोत्तीर्ण कहा गया है और जब वे भेदख्याति से शिवादि पृथ्वी पर्यन्त विश्व के नाना रूपों में भासित होते हैं, उस रूप को विश्वमय कहा जाता है। स्वातन्त्र्यदर्पण में कहा गया है कि यह भिन्नता केवल व्यवहार मात्र में है, वास्तव में कभी भी विश्वोत्तीर्ण (शिव) – विश्वमय (शक्ति) परस्पर कदापि अलग नहीं होते। जैसे समुद्र की शान्त अवस्था विश्वोत्तीर्ण और उसके झाग, बुद्‌बुद् लहर इत्यादि में परिणत अवस्था विश्वमय का प्रतीक कही जा सकती है। [2] राजानक क्षेमराज ने प्रत्यभिज्ञाहृदय में ऐसा ही मत अभिव्यक्त किया है।[3]

---

1. पारमेश्वरस्य स्पन्दस्यान्तर्मुखा स्फुरत्ता शिवत्वं विश्वोत्तीर्णत्वम्, बहिर्मुखा च सा विश्वमयत्वं शक्तित्वम्।'' स्वा० द० टी०, 3/3
2. ''विश्वोत्तीर्णः स शिवो विश्वमयत्वे स एव शक्तिरिति। व्यवहारमात्रमेतन्नैव हि, शक्तिः शिवात् क्वचिद् भिन्ना।।'' स्वा द०, 3/3
3. तदुत्तीर्णशिवभट्टारकस्य प्रकाशैकवपुषः प्रकाशैकरूपा एव भावाः। श्रीमत्परमशिवस्य पुनः विश्वोत्तीर्ण–विश्वात्मक–परमानन्दमयप्रकाशैकघनस्य एवं विधमेव शिवादि धरण्यन्तं अखिलं अभेदेनैव स्फुरति; न तु वस्तुतः अन्यत् किञ्चित् ग्राह्हं ग्राहकं वा; अपि तु श्रीपरमशिवभट्टारक एव इत्थं नानावैचित्र्यसहस्रैः स्फुरति। प्र० हृ० टी०, सू०–3

चतुर्थ अध्याय

स्वातन्त्र्य दर्पण में विश्वप्रपञ्च की अवधारणा

चतुर्थ अध्याय

स्वातन्त्र्य दर्पण में विश्वप्रपञ्च की अवधारणा

(अ) जगत् : स्वातन्त्र्य दर्पण के अनुसार एकमात्र परमार्थ सत्ता परमशिव मानी गई है जिसको चिति, पराशक्ति, परासंवित्, शिव इत्यादि विविध नामों से सम्बोधित किया जाता है। यह शिव और शक्ति का सामरस्य रूप है। अपनी पूर्ण अवस्था में इसमें समस्त प्रपञ्च एकरूप से भासित होता है, यही दशा इनकी विश्वोत्तीर्ण दशा कहलाती है। परन्तु जिस समय अपने एकरूप को विविध वैचित्र्य वाले अनन्त रूपों में अभिव्यक्त करते हैं, तो वह दशा विश्वमय कहलाती है।

वास्तव में शक्ति ही जगत् रूप में विकसित होती है।[1] जगत् की अभिव्यञ्जना करते हुए क्षेमराज बताते हैं कि प्रमाता–प्रमाण–प्रमेय के समन्वित रूप को ही विश्व कहते है अथवा नील–सुखादि (अन्तः बाह्य) विषय समूह ही जगत् कहलाता है अथवा शिव से लेकर पृथिवी पर्यन्त तत्त्वों को ही विश्व कहते हैं। जगत् अवभासन के समय परमसत्ता अपने शुद्ध परिपूर्ण रूप में अच्युत रहते हुए ही अपने को वाचक (प्रमाता) और वाच्य (प्रमेय) के रूप में अभिव्यक्त करती है। प्रमेय को ही तत्त्व कहा जाता है, जो छत्तीस प्रकार के होते है[2] –

(क) शुद्धतत्त्व या शुद्ध सृष्टि :

1. शिवतत्त्व : काश्मीर शैवदर्शन के 36 तत्त्वों में से प्रथम तत्त्व 'शिवतत्त्व' है। स्वतन्त्र चिद्धन संवित् स्वभाव परमशिव जब अपनी स्वातन्त्र्य शक्ति से अपने अन्तर्गत अखिल विश्व को

---

1. "शक्तिप्रचयोऽस्य विश्वम्।" (शि० सू० 3/30)
2. "परमशिवस्तुपरिपूर्णस्वातन्त्र्यमहिम्ना तत्त्वषट्त्रिंशकतयावभासमानोऽपि सर्वकालं शुद्धसंविद्रुपतया पारमैश्वर्यस्वभावतया चापि सततं प्रकाशमान एवास्ते।" (स्वा० द० टी० 3/21)

अवभासित करने की इच्छा करता है, तब उसके विश्वोन्मीलन की उस अवस्था को ही 'शिवतत्त्व' कहते हैं।[1] तन्त्रसार के अनुसार पञ्चशक्ति स्वभाव परमशिव में चित् शक्ति का प्राधान्य होने पर वह 'शिवतत्त्व कहलाता है।[2] स्वातन्त्र्यदर्पण अनुसार शिवतत्त्व परमेश्वर का अन्तर्मुखी रूप है।[3]

2. **शक्तितत्त्व** : प्रत्येक जीव में रहने वाला शिवतत्त्व ही आत्मतत्त्व है।[4] वास्तव में शिव और शक्ति तत्त्व नित्य और अभिन्न होते हैं, अतः इनकी अभिव्यक्ति शाश्वत एक साथ रहती है, केवल औपचारिकतावश शक्ति तत्त्व को दूसरा तत्त्व कहा जाता है। शक्तितत्त्व में महेश्वर के आनन्द का प्राधान्य है।[5] जिस प्रकार चेतना सत्ता की पूर्वकल्पना करती है, इसी प्रकार शक्तितत्त्व की पूर्वकल्पना शिवतत्त्व द्वारा होती है। तन्त्रालोक के अनुसार बाह्योन्मुख परमशिव की उन्मुखतारूप क्रिया ही शक्ति तत्त्व है।[6] स्वातन्त्र्यदर्पण अनुसार शक्ति तत्त्व परमेश्वर का बहिर्मुख रूप है।[7]

(ख) शुद्धाशुद्ध सृष्टि :

3. **सदाशिव तत्त्व** : अपनी इच्छाशक्ति से अवभासित जगत् को व्याप्त कर रहने वाला, समस्त प्राणी मात्र के प्रति अनुग्रह करने वाला परमशिव का ही रूप सदाशिव कहलाता है। शिव और

---

1. "यदयमनुत्तरमूर्तिर्निजेच्छयाखिलमिदं जगत्स्रष्टुम्।
परस्पन्दे स स्पन्दः प्रथम शिवतत्त्वमुच्यते तज्ज्ञैः।।"
–(षट्० त्रि० त० सं०, का 1, पृ०1)
2. "चित्प्रधाने शिवतत्त्वम्" (तं० सा०, पृ० 74)
3. "पारमेश्वरस्य स्पन्दस्यान्तर्मुखा स्फुरत्ता शिवत्वं विश्वोत्तीर्णत्वम्"
–(स्वा० द०, टी० 3/3)
4. "चैतन्यमात्मा" (शि० सू० 1/1)
5. आनन्दोच्छलिताशक्तिः सृजत्यामानमात्मना।।" (शि० स्तो० टी० उत्पलदेव)
6. "तस्य। परमशिव। बहिरौन्मुख्येन व्यापारः शक्तितत्त्वम्"
–(तं० आ० भा० 6, पृ० 50-51)
7. "बहिर्मुखा च सा विश्वमयत्वं शक्तितत्त्वम्" –(स्वा० द०, टी० 3/3)

शक्ति तत्त्व के सतत अवभासमान होने के कारण वास्तव में यह प्रथम सृष्टि होती है, जिसमें सत् का ज्ञान होता है, अतः इसे सादाख्य तत्त्व भी कहते है।[1] सदाशिवदशा में ज्ञान शक्ति की प्रधानता रहती है।[2] शिव की स्वेच्छा से जगत् विकास में प्रथम अन्तःस्पन्दन की दशा, सदाशिव तत्त्व संज्ञा से स्वातन्त्र्य दर्पण में अभिव्यक्त है।[3]

4. **ईश्वर तत्त्व :** जिस प्रकार शिव की इच्छा का अन्तर्मुख स्पन्द सदाशिव तत्त्व कहलाता है, उसी प्रकार उसके बहिर्मुख स्पन्द को ईश्वर तत्त्व कहते हैं।[4] 'इदम्' अंश के प्रधान होने पर समस्त विश्वरूप में दिखाई देता हुआ "परमशिव" ही "ईश्वरतत्त्व" की दशा को प्राप्त करता है। इसमें इदन्ता का अंश भी अधिक स्फुट रूप से प्रकाशित होता है। अभिनवगुप्त अनुसार ईश्वरतत्त्व में ज्ञान शक्ति का प्राधान्य रहता है,[5] परन्तु स्वातन्त्र्यदर्पण में क्रिया शक्ति की प्रधानता बतलाई गई है[6] और इसे "उन्मेष" दशा कहा गया है।[7]

5. **सद्विद्यातत्त्व :** "अहं" और "इदं" की समान प्रतीति ही सद्विद्यातत्त्व है। इसमें दोनों परामर्श समाधृत तुला के पलड़ों के समान एक बराबर होते हैं।[8] उपर्युक्त शिव से लेकर सद्विद्या पर्यन्त पाँच तत्त्व परमशिव की अभिव्यक्ति मात्र है। यहाँ तक महेश्वर का स्वरूप गोपन नहीं होता। इस स्तर पर क्रियाशक्ति

---

1. "सृष्टिक्रमोपदेशादो प्रथममुचितं तत्सादाख्यं तत्त्वम्"
   –(ई० प्र० वि०, भा० 2, पृ० 191
2. "ज्ञानं सदाशिवत्वे" (स्वा० द०, 3/6)
3. "प्रथमा दशा निमेषः कथितः" (स्वा० द०, 3/7)
4. "ईश्वरो बहिरुन्मेष" (ई० प्र० का०, 3/3)
5. "ज्ञानशक्ति प्राधान्ये ईश्वरतत्त्वम्" (तं० सा०, पृ० 74)
6. "क्रियेश्वरत्वे" (स्वा० द०, 3/6)
7. "शास्त्रेषु चापरोन्मेष" (स्वा० द०, 3/7)
8. "सामानाधिकरण्यं च सद्विद्याहमिदं धियो।।" (ई० प्र० का०, 3/3)

की प्रधानता होती है।[1] स्वातन्त्र्यदर्पण अनुसार इस दशा में शिव की शक्ति की निमेष और उन्मेष दोनों शक्तियाँ विद्यमान रहती हैं।[2]

(ग) अशुद्ध सृष्टि :

6. माया तत्त्व : माया से पृथिवी तक की सृष्टि अशुद्ध सृष्टि कहलाती है, क्योंकि इसमें 'माया' की प्रधानता रहती है। यह परमशिव की अनेक शक्तियों में से एक है। इसी माया शक्ति के आवरण में 'परमशिव' अपने वास्तविक स्वरूप का गोपनकर पशुदशा को प्राप्त करता है। वस्तुतः यह माया तत्त्व ही जगत् की रचना का कारण है। माया आत्मा पर एक आवरण डाल देती है तथा भेद बुद्धि उत्पन्न कर देती है, जिससे वह स्वत्व को भूलकर शरीरादि से तादात्म्य करने से सुप्त–सा (अणु) हो जाता है।[3] स्वातन्त्र्यदर्पण अनुसार परमशिव की स्वात्मा को ढ़कने वाला तत्त्व ही माया तत्त्व कहा जाता है।[4]

7. कला तत्त्व : परमेश्वर का परमार्थ स्वरूप गुप्त होने पर एवं अणु बनने पर जिसके द्वारा उसका सर्वकर्तृत्व संकुचित होकर किञ्चित्कर्तृत्व में परिणत हो जाता है, उसे कला तत्त्व कहते हैं।[5] कला से ही प्रधान (प्रकृति) की उत्पत्ति होती है।[6]

8. विद्यातत्त्व : परमेश्वर का जिसके द्वारा सर्वज्ञत्व परिच्छिन्नं होकर किञ्चित्ज्ञत्व में परिवर्तित हो जाता है – वह विद्या तत्त्व

---

1. "क्रियाशक्ति प्राधान्ये विद्या तत्त्वम्।।" (तं० सा०, आह० 8, पृ० 74)
2. "उभयत्र वर्तमाना शक्तिदैवस्य शुद्धविधाख्या" (स्वा० द०, 3/7)
3. (क) "सुप्तस्थानीयमणुम्" (तं० सा०, आह० 8)
   (ख) "भेदे त्वेकरसेभातेऽहन्तयानात्मनीक्षिते।।" (ई० प्र० का०, 3/8)
4. "स्वात्मावरणं शम्भोर्मायातत्त्वं" (स्वा० द०, 3/11)
5. "किञ्चित्कर्तृत्वञ्च कला।" (स्वा० द० टी० 3/15)
6. "वेद्यमात्र स्फुटम् भिन्न प्रधानं सूयते कला" (तं० आ० आह० 9, पृ० 177)

कहा जाता है।[1] संकुचित ज्ञानरूपा विद्या अशुद्ध विद्या भी कहलाती है।[2] पुरुषों में विवेक शक्ति रूप में स्थित जड़ बुद्धि से पृथक् एवं उसमें प्रतिबिम्बित विषयों की अनुभूति कराती है।

9. राग तत्त्व : जिसके प्रभाव से पूर्णतृत्ति (पूर्णत्व) परिमित हो जाती है और वह सीमित भोगों में आसक्त हो जाता है – राग तत्त्व अभिहित होता है। यह बुद्धि के धर्म स्थूल राग (अवैराग्य) से सूक्ष्मतर है। मितात्मा के देहादि प्रमातृभाव और प्रमेय में गुणारोपणमय आसक्ति को राग कहा जाता है।[3] यह पुरुष को भेदगत भोगों में अनुरञ्जित करता है।[4]

10. काल तत्त्व : परमेश्वर के नित्य स्वरूप का संकुचित होकर भूत, वर्तमान और भविष्यत में परिच्छिन्न हो जाना–काल तत्त्व कहलाता है। इसके कारण ही अक्रम स्वरूप में क्रमता का अवभास होता है।[5] यह पौर्वापर्य का क्रम ही काल[6] और इसकी प्रकाशिका काल शक्ति अभिहित होती है।[7]

11. नियति तत्त्व : परमेश्वर के स्वातन्त्र्य का संकुचित होकर विशिष्ट कार्य के लिए विशिष्ट कारण का नियम धारण करना एवं व्यापकत्व का परिमित होकर किसी विशिष्ट देश में परिन्छिन्न हो जाना नियति तत्त्व कहलाता है।[8] यह नियामिका है

1. सर्वज्ञा तस्यशक्तिः परिमिततनुरल्प वेद्यमात्रपरा। ज्ञानमुत्पादयन्ती विद्येति निगद्यते बुधैराधैः।। (षट् वि० तं० सं०, श्लो० 9)
2. ''तत्र तस्य किञ्चिज्ज्ञत्वं विद्या अशुद्धविद्येति प्रसिद्धा'' (स्वा० द० टी०, 3/15)
3. सुगुणारोपणमय इव निजदेहादौ तस्य प्रेयसि वस्तुनि च योऽस्त्यभिष्वङ्गः। रागः पुंसस्त्वसौ समाख्यातः।। (स्वा० द०, 3/16)
4. रागोऽपि रञ्जयत्येनं स्वभोगेष्वशुचिष्वपि। (मा० वि० तं० 1-18)
5. ''कालः क्रमस्वरूपो, मातृत्वेनाभिमन्यमानस्य। जड़देहादेस्तेन क्रमिकत्वं स्यात्ततः प्रमेयस्य।।'' (स्वा० द० 3/14) एवं
6. ''क्रम एव कालो।'' (ई० प्र० वि० भा० 2, पृ० 9 एवं ई० प्र० का० 2/3)
7. ''पूर्वापरक्रमकल्पनैव कालस्य व्यावहारिकं स्वरूपम्।'' (स्वा० द० टी० 3/14) ''सेयम् इत्थं भूताभासवैचित्र्यप्रथनशक्तिः भगवतः कालशक्तिः इत्युच्यते।'' –(ई० प्र० वि० भा० 2, पृ० 13)
8. ''कर्त्तव्ये बोद्धव्ये सर्वत्र, यथा नियम्यते नियमैः। नियतिरसौ पुरुषस्य स्वातन्त्र्य-निरोधिनो प्रभोः शक्तिः।।'' (स्वा० द० 3/14)

और इसके नियमों के अनुसार ही पुरुष में वस्तु विशेष के प्रति राग उदय होता है।[1] यह राग पुनः विद्या एवं कला का नियामक है।

12. पुरुष तत्त्व : माया एवं उसके पञ्च कञ्चुकों से आबद्ध चिदात्मा पुरुष, अणु, जीव पुमान्, पशु, मितात्मा, पुद्गल आदि विविध नामों से अभिहित होता है।[2] वास्तव में ऐसा केवल दिखाई-सा देता है तथा इस आभास के कारण ही वह पूर्णत्व से अणुत्व को प्राप्त सा करता है, यथार्थ में तो वह परमशिव ही होता है।[3]

(घ) करण-कार्यत्व

13. प्रकृति तत्त्व : शुद्ध विद्या की सार्वभौम दशा का परिन्छिन्न अनुभव ही पुरुष एवं प्रकृति होता है। ये दोनों तत्त्व एक साथ ही अवभासित होते हैं।[4] प्रकृति को कला का वेद्यरूप कार्य कहा जाता है।[5] यह सुख-दुःख एवं मोहात्मक वस्तुओं की सृष्टि करने वाले सत्त्व, रजस् और तमस् तीनों गुणों की साम्यावस्था होती है।[6]

14. बुद्धि तत्त्व : जब पुरुष प्रकृति में अपनी प्रथम चेतना का अनुभव करता है, तो ऐसा अनुभव बुद्धि तत्त्व कहलाता है, जिससे सत्तामात्र की प्रतीति होती है।[7] यह प्रकृति के सत्त्व गुण

---

1. "नियतिः ममेदं कर्त्तव्यं इतिनियमनहेतुः।" (परा० प्रा०, पृ०9)
2. "एतत्कृतसङ्कोचो नानायोनिषु पुमान् स संसरति। सुखदुःखभोगभागी स्वर्गे, निरये च मर्त्यलोके च।।" (स्वा० द० 3/18)
3. "माया गृहीतसंकोचः शिवः पुंस्तत्त्वमुच्यते।" (अनु० प्र० पं०, श्लोक० 32)
4. "सममेव हि भोग्यं भोक्तारं च प्रसूयते।" (तं० आ०, भा० 6, 9/215)
5. "वेद्यमात्रं स्फुटं भिन्न प्रधानं (प्रकृतिं) सूयते कला।"
 -(तं० आ०, आह०, 9/214)
6. "तावदेष एव सुख-दुःख मोहात्मक -भोग्यविशेषानुस्यूतस्य सामान्यमात्रस्य तद्गुणसामान्यापरनाम्नः प्रकृतितत्त्वस्य सर्गः।" (तं० सा०, पृ० 83) एवं "प्रकृतितत्त्वं कार्यकरणतत्त्ववानां सामान्यं स्वरूपम्।" (स्वा० द०, टी०, 3/20)
7. "सत्तामात्रे महति आत्मनि।" (यो० भा० 2/19, पृ० 76)

का विकास होता है और इसमें शान्त, आह्लादात्मक प्रकाश होता है। बुद्धि निश्चयात्मिका होती है।[1]

15. अहङ्कार तत्त्व : बुद्धि तत्त्व से अहङ्कार उत्पन्न होता है। इसके द्वारा अहं प्रतीति होती है, एवं यह सभी प्रमेयों से तदात्म्य स्थापित करता है, जिससे वे अपने माने जाते हैं।[2] भगवती पराशक्ति की इच्छाशक्ति से प्रभावित प्रकृति का रजस् गुण ही इसमें प्रबल होता है।[3]इसमें प्रथम क्रिया का अनुभव सा होता है और यह दुःखात्मक होता है।[4]

16. मन तत्त्व : अहंकार से मन उत्पन्न होता है। यह क्रिया–प्रधान, संकल्प–विकल्पशील तमोगुण रूप होता है।[5] यह इन्द्रियों को ठोस चित्र बनाकर देता है। यह इच्छाओं का घर और उभयेन्द्रिय हैं।[6]

पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ / बुद्धीन्द्रियाँ (17 से 21)

जब मन में विषयों के ज्ञान करने की इच्छा होती है, तो उनकी ग्राहक इन्द्रियों की उत्पत्ति हो जाती है, जिन्हें ज्ञानेन्द्रियाँ अथवा बुद्धीन्द्रियां सम्बोधित किया जाता है। ये क्रमशः श्रवणेन्द्रिय, स्पर्शेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, रसनेन्द्रिय और घ्राणेन्द्रिय है, जिनसे क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध का ग्रहण होता है।[7]

---

1. ''ज्ञानमपि सत्त्वरूपा निर्णयबोधस्य कारणं बुद्धिः।। त० सं०, 15 एवं ''तत्तन्नामरूपनिश्चायिका अध्यवसासरूपा बुद्धिः।'' (स्वा० द०, टी 3/22)
2. ''ग्राह्य ग्राहकाभिमानरूपो अहंकार।'' (ई० प्र० वि०, 3/1/11) एवं ''अभिमननसामर्थ्यरूपोऽहङ्कारः।'' (स्वा० द०, टी० 3/22)
3. ''इच्छास्य रजोरूपाहङ्कृतिरासीदहंप्रतीतिकरी।'' (त० सं० 14)
4. ''दुःखं रजः क्रियात्मत्वात् क्रिया हि तदतत्क्रमः।'' (तं० आ०, आह०, 9/222)
5. (क) ''तस्य क्रिया तमोमयमूर्त्तिमन उच्यते विकल्पकाकारी।''
   –(त० सं० 15)
   (ख) ''विषये विषये विविधनामरूपसङ्कल्पनोपयोगि मनः।''
   –(स्वा० द०, टी० 3/22)
6. ''उभयात्मकं मनः।'' (सां० द०, 2/26-27)
7. ''ज्ञानेन्द्रियाणिावच्छब्दाद्यर्थप्रतिबिम्बग्राहीणि–श्रोत्र–त्वक्–चक्षू–रसना–घ्राणाख्यानि।''
   –(स्वा० द०, टी० 3/22)

पाँच कर्मेन्दियाँ (22 से 26 तक)

वस्तु ग्रहण के पश्चात् उसके विसर्जनादि की प्रक्रिया होनी आवश्यक है। अतः इसकी अपेक्षा से तत्-तत् इन्द्रियों की उत्पत्ति होती है, जिन्हें कर्मेन्द्रियां कहा जाता है। ये क्रमशः वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ इन्द्रियां होती हैं, जिनसे क्रमशः बोलना, ग्रहण करना, चलना, विसर्जन एवं जनन अथवा आनन्दोत्पादन की क्रियायें सम्पन्न होती है।[1]

(ङ) पाँच तन्मात्राएं (27 से 31 तक)

इन इन्द्रियों से सम्बन्धित प्रमेय 'तन्मात्रा' कहलाती है, जिससे अभिप्राय है – उतना ही। ये सामान्य (सूक्ष्म) गुणों से युक्त होती हैं। ये क्रमशः शब्द तन्मात्रा, स्पर्श तन्मात्रा, रूप तन्मात्रा, रस तन्मात्रा और गन्ध तन्मात्रा कहलाती हैं। इनमें भेदक गुण नहीं होते हैं।[2]

(च) पाँच स्थूलभूत (32 से 36 तक)

अपनी-अपनी विभिन्नताओं से तन्मात्रायें अपने परिणाम रूप में विशेष (स्थूल) प्रमेयों में अभिव्यक्त हो जाती है, जिन्हें स्थूलभूत कहा जाता है। अतः शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध तन्मात्राओं से क्रमशः आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी स्थूलभूत विकसित होते हैं, जिनके गुण क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध हैं।[3]

---

1. "कर्मेन्द्रियाण्यपि पञ्च वचन-ग्रहण-चलन-विसर्जनानन्दनसामर्थ्यरूपाणि साधनानि क्रमेण वाक्पाणिपादपायुपस्थाख्यानि।" (तदैव)
2. "तत्र सूक्ष्मोविषयस्तन्मात्रपञ्चकं शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धात्मकम्।" (तदैव)
3. "स्थूलश्च विषयो भूतपञ्चकम् आकाश-वायु-अग्नि-जल-पृथिवी-स्वरूपम्।" -(तदैव)

(आ) सप्त प्रमाता :

काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार वास्तव में एक ही प्रमाता शिव है। अवरोहण लीला के समय अपने को प्रमुख रूप से सात वर्गों में अवभासित करते हैं, जहाँ पूर्व-पूर्व प्रमाता की अपेक्षा उत्तर-उत्तर प्रमातृ वर्ग सामर्थ्य की अपेक्षा से सीमित-सीमित शक्ति वाले होते जाते हैं। पुनः स्तर की अपेक्षा से इन्हें अभेद, भेदाभेद और भेद वर्ग की दशा में विभाजित कर सकते हैं। शिव और शक्ति तत्त्व के स्तर के प्रमाता अभेद, सदाशिव, ईश्वर, शुद्धविद्या तत्त्व के स्तर के प्रमाता भेदाभेद और माया से लेकर पृथिवी प्रयन्त तत्त्वों के स्तर के प्रमाता भेद वर्ग में आते हैं। मुख्यः शिव तत्त्व से लेकर शुद्धविद्या के स्तर के प्रमाताओं को पति और माया से लेकर नीचे के प्रमाताओं को पशु सम्बोधित किया जाता है।

शिव तत्त्व दशा का अधिष्ठाता भट्टारक शिव होता है और इस भूमि मे 'शाम्भव' प्रमाता अवस्थित होते हैं। शिव की भाँति ही इन्हें ''अहं इदं'' पूर्णाभेद की प्रतीति होती है और किसी भी प्रकार के मल राहित्य से इन्हें 'अकल' भी कहा जाता है। इनका अनुभव भी शुद्ध 'अहं' मात्र होता है।

शक्तितत्त्व की अधिष्ठाता शक्ति होती है और इस अवस्था के प्रमाता 'शाक्त' कहे जाते हैं। ये भी मलरहित अकल प्राणी होते हैं। इनका अनुभव 'अहमस्मि' होता है। विमर्श की प्रधानता होने से इनमें आनन्दातिरेक होता है। अतः इसमें आनन्द शक्ति का प्राबल्य होता है।

सदाशिव तत्त्व की अधिष्ठाता भट्टारक सदाशिव है और प्रमाताओं का अनुभव 'अहं इदं' होता है, जिसमें प्राधान्य तो 'अहं' का ही रहता है और इदं (विश्व) गौण रहता है अर्थात् वह

अस्फुट 'इदं' को अपना ही अंश समझता है। प्रमाता मन्त्रमहेश्वर कहलाते हैं, जिन्हें विश्व भेदाभेद दृष्टि से प्रकाशित होता है। इनमें भी कोई मल नहीं होता, परन्तु विश्व अस्फुट रूप से भासित होने के करण पूर्णतः निर्मल भी नहीं होता।

ईश्वर तत्त्व का अधिष्ठाता भट्टारक ईश्वर है और इस अवस्था के प्रमाता 'मन्त्रेश्वर' कहलाते हैं, इसमें कोई मल नहीं होता। इनका अनुभव 'इदं अहं' होता है। प्रमेय समूह की प्रधानता होने से इसमें ज्ञान शक्ति की प्रधानता होती है।

सद्विद्यातत्त्व की अधिष्ठाता अनन्त भट्टारक है और इस अवस्था के प्रमाता 'मन्त्र' कहे जाते हैं जिनको विद्येश्वर भी कहा जाता है। इसका अनुभव 'अहमिदमस्मि' होता है। इनमें मायीय मल का आरम्भ हुआ सा प्रतीत होता है। इनमें क्रिया शक्ति की प्रधानता रहती है।

विद्या तत्त्व के भीतर कई एक अवान्तर सोपान भी होते हैं। उनमें महामाया तत्त्व का स्थान शुद्धविद्या तत्त्व से कुछ नीचे और तिरोधान करने वाली माया से कुछ ऊपर माना जाता है। इसमें विज्ञानाकल (विज्ञानकेवली) प्रमाता होते हैं, जो कर्तृता से शून्य होते हैं और शुद्ध बोध रूप होते हैं। इनका परामर्श 'अहं-अहं-इदं-इदं' होता है एवं इनमें क्रियाशक्ति का प्राधान्य होता है। स्वरूप में कर्तृता का संकोच होने से एक प्रकार का आणव मल एवं भेद प्रतीति से किञ्चित् मायीय मल भी यहाँ होता है और कार्ममल इनमें नहीं होता।

माया के स्तर पर शून्य प्रमाता अथवा प्रलयकेवली होते हैं और उनके अनुरूप ही उनका प्रमेय होता है। ये जड़ात्मक शून्य- प्राणादि में ही देहरूपता अतिक्रमण द्वारा 'अहं' अनुभूत करते हैं। अतः दोनों प्रकार का आणव मल कर्मों का संस्कार

होने से कार्म मल एवं वेद्य के योग अथवा अयोग से मायीय मल विकल्प से होता है।

पुरुष तत्त्व की अवस्था में माया एवं उसके पाँच कञ्चुकों का प्रभाव होने से चिदात्मा, पुरुष, अणु, जीव, पुमान्, पशु, पुद्गल आदि विभिन्न नामों से अभिहित होता है। ये पुरुष आणव, मायीय और कार्म तीनों मलों से युक्त होने पर भी संसार–बीज कार्म मल के प्राधान्य वाले होते हैं तथा 'सकल' प्रमाता कहलाते हैं, पृथिवी पर्यन्त इनकी अवस्थिति मानी गई है। ये परस्पर सर्वतः भिन्न एवं परिमित दृष्टिकोण वाले होते हैं तथा इनका प्रमेय भी वैसा ही होता है। अतः देव, दानव, मानव एवं तिर्यक् आदि कारण–सूक्ष्म अथवा स्थूल शरीरों को धारण करने वाले एवं सभी भुवनों में रहने वाले सभी प्राणी 'सकल' प्रमाताओं के ही अन्तर्गत आते हैं, जिनका अधिष्ठाता अनन्त भट्टारक ही होता है।[1]

प्राण – प्राण जीवनी शक्ति ही है।[2] प्राण (जीवनी शक्ति) की मुख्य विशेषता 'उच्चार' उर्ध्वगमन व ध्वनि के रूप में प्रतीत होती है। प्राण में चित्त की विश्रान्ति का अभ्यास उच्चार–योग कहलाता है। प्राण से दो अभिप्राय लिये जाते है – सामान्य (सूक्ष्म) प्राण और विशेष (स्थूल) प्राण। सामान्य रूप में इसका

---

1. ''वस्तुतः एक एव प्रमाता शिवः। स एव विद्याभूमिकायां मन्त्रेश्वरमन्त्रमहेश्वर–प्रमातृतया प्रमेयांशं स्वशरीरकल्पतया पश्यन्, शक्तिभूमिकायां चाकलप्रमातृतया सर्वं सर्वथा स्वात्मतयैव विमृशन् पतिरित्युच्यते। स एव मायाभूमिकायां भावजातं स्वस्माद् भिन्नतया पश्यन् पशुरित्याख्यायते संसारे इति संसृतौ। तेन संसृतेरुत्तीर्णाः विज्ञानाकलाः भेददर्शिनोऽपि पतिप्राया एव, मन्त्रप्रमातारस्तु पतय एव। प्रलयाकलाः कमपि कालं संसरणरहिता अपि कल्पान्तरे संसृतिभागिनः सन्तः पशव एव। मायीयाः सकलाख्याः प्रमातारस्तु स्पष्टं पशवः।'' –(स्वा० द०, टी० 3/19)
2. ''जीवनशक्तिः प्राणः'' –(स्वा० द०, टी० 9/11)

अर्थ होता है – प्राणना, जीवनशक्ति।[1] विशेष रूप में इसके भिन्न-भिन्न नाम हो जाते हैं जैसे प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान जो प्राणशक्ति के विविध कार्यों के आधार पर सम्बोधित होते हैं।[2] विशेष प्राणों का गुण 'उच्चार' होता है, सूक्ष्म-प्राण को 'वर्ण' कहते है, ये प्राण शक्ति की आन्तरिक विधायें हैं।

विशेष (स्थूल) प्राण के अन्तर्गत नासिका में आवागमन करते श्वास-प्रश्वास पर मन केन्द्रित किया जाता है। श्वास-प्रश्वास के रूप में यह प्राण शरीर के माध्यम से होकर बाह्य स्थान में द्वादशान्त (बारह अंगुल) की दूरी पर्यन्त गतिशील रहता है। मन को शरीर के मध्य से वायु के आरम्भिक बिन्दु पर और अन्तिम बिन्दु पर जो कि केन्द्र से बारह अंगुल की दूरी पर होता है, स्थिर करना होता है।[3] इन दोनों बिन्दुओं (अन्तः द्वादशान्त व बाह्य द्वादशान्त) पर मन स्थिर करने के अभ्यास से मन विकल्प विहीन होना आरम्भ हो जाता है और अन्त में आत्मस्वरूप में समावेश को प्राप्त होता है।[4]

प्राण पंचक – स्वातन्त्र्य दर्पण के अनुसार बुद्धि, वाणी और काय (शरीर) से त्याग को प्राण कहते हैं और ग्रहण को अपान कहते हैं। इसी प्रकार इन दोनों के मध्य में जो विच्छेद होता है उसको समान कहते हैं।[5] जैसे हाथ और पाँव आदि द्वारा त्याग अथवा

---

1. "प्राणनं जीवनमेव प्राणः" –(स्वा० द०, टी० 9/11)
2. "सकलादकलं यावद् , विजृम्भते पञ्चभिर्निजै रूपै" –(स्वा० द०, टी० 9/11)
3. "यथा तथा यत्र तत्र द्वादशान्ते मनः क्षिपेत्।
प्रतिक्षणं क्षीणवृत्तेर्वैलक्षण्यं दिनैर्भवेत्।" (वि० भै० 51)
4. "आदिकोटिः हृदयम् अन्तकोटि द्वादशान्तः तयोः प्राणोल्लासविश्रान्त्यवसरे निभालने चित्तानिवेशनेन परिशीलनम्। यथोक्तं विज्ञानभैरवेहृदयाकाशे निलीनाक्षः पधसम्पुटमध्यम्। अनन्तचेताः सुभगे परं सौभाग्यमाप्नुयात्।।"
–(प्र० हृ० टी०, सू०18)
5. "कायिकवाचिक-बौद्धास्त्यागाः प्राणो ग्रहास्त्वपानः स्यात्।
मध्ये योविच्छेदस्तयोः समान इति सम्मतः सिद्धैः।।" (स्वा० द०, 9/12)

ग्रहण कायिक कहलाता है। शब्दों का अन्तर उपादान अथवा बाहिर उच्चारण वाचिक, ग्रहण–त्याग कहलाता है। बुद्धि में विकल्पों का लय–उदय बौद्ध ग्रहत्याग कहलाता है।[1] इसी प्रकार प्राणियों का प्रश्वास और निःश्वास त्यागग्रह कहलाता है। इसी प्रकार सुषुप्ति की दशा प्राण और अपान उपशम रूप समान कहलाता है।[2]

सुषुम्ना द्वारा मध्य मार्ग से ऊर्ध्व सहस्रचक्र के प्रति गमनशील, सांसारिक संकल्प–विकल्पनाशक होने से अग्निरूप और विकल्पसमूह का प्रशमन स्वभाव प्राण उदान कहलाता है।[3] सर्वतः एवं सर्वथा परिपूर्ण, विश्वनिर्भर 'अहमिति' संवित्मात्रसार, पारमेश्वर सततोदित पर स्वात्मविमर्श व्यानप्राण कहलाता है।[4]

जीव सकल प्रमाता की जाग्रत् और स्पप्न दशा में प्राण और अपान प्राण की प्रधानता होती है। सुषुप्ति दशा के प्रलयाकल प्रमाता में समान रूप प्राण का विकास रहता है।[5]

तुर्या दशा में क्रमशः विज्ञानाकल–मन्त्र–मन्त्रेश्वर–मन्त्रमहेश्वर प्रमाताओं में तारतम्य से उत्कृष्ट–उत्कृष्टतर उदान प्राण की प्रधानता होती है। तुर्यातीत अवस्था में अकल (शिव) प्रमाता में व्यान संज्ञक प्राण रहता है।[6]

चिदात्मा परमेश्वर की अविनाशी स्पन्दात्मक ऐश्वर्यशक्ति जब अपने स्वरूप को छिपाकर पशुदशा में प्राण, अपान तथा

---

1. "हस्तपादादिकृतास्त्यागा ग्रहाश्च कायिकाः। वाचा पदानामन्तरूपादानं बहिरुच्चारणञ्च वाचिकौ ग्रहत्यागौ। बुद्धौ विकल्पानां लयोदयौ बौद्धौ ग्रहत्यागौ। एवमेव प्रश्वासनिःश्वासौ प्राणीयौ त्यागग्रहौ।" (स्वा० द० टी०, 9/12)
2. "प्राणापानयोरुपशमरुपः प्राणः समानः।" (तद्देव)
3. "मध्योर्ध्वगाम्युदानो, वह्निमयः प्लोषको विकल्पानाम्।।"(स्वा०द० टी० 9/12)
4. "व्यानश्च विश्वपूर्णः परो, विमर्शो मतो महेशस्य।" (स्वा० द०, 9/13)
5. "जाग्रत्स्वप्नपदस्थे सकले, प्राणो यथा तथापानः।
प्रलयाकले सुषुप्तौ समानरूपो विजृम्भते प्राणः।।" (स्वा० द०, 9/14)
6. "आसादाख्यं च ततस्तुर्यपदे जृम्भणं ह्युदानस्य।
तुर्यातीते च शिवे व्यानाख्यो जृम्भतेऽकले प्राणः।।" (स्वा० द०, 9/15)

समान शक्ति की दशाओं में जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति भूमियों में देह, प्राण एवं पुर्यष्टात्मक कलाओं द्वारा व्यामोहित करती है, तब उसी से जनित व्यामोहितता संसारित्व के नाम से कही जाती है। इसे संसारी दशा भी कहते हैं। और जब (वह ऐश्वर्य शक्ति) मध्यधाम अर्थात् सुषुम्ना पथ के उल्लास रूप उदानशक्ति एवं विश्व- व्याप्ति-सारभूत व्यानशक्ति को, जिसे क्रमशः आनन्दघनरूप तुर्यदशा और चिद् धनरूप तुर्यातीत दशा कहा जाता है, उन्मीलित करती हैं, तब देहादि अवस्था में भी पति दशात्मक जीवन्मुक्ति उपलब्ध होती है। इसे जीवन्मुक्ति दशा के साथ-साथ अध्यात्म दशा भी कहते हैं।[1]

1. ''अपि च चिदात्मनः परमेश्वरस्य स्वा अनपायिनी एकैव स्फुरत्तासारकर्तृतात्मा ऐश्वर्यशक्तिः। सा यदा स्वरूपं गोपयित्वा पाशवे पदे प्राणापान-समानशक्तिदशाभिः जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तभूमिभिः देह-प्राण-पुर्यष्टककलाभिश्व व्यामोहयतिः, तदा तद्व्यामोहितता संसारित्वम्; यदा तु मध्यधामोल्लासाम् उदानशक्तिं, विश्वव्याप्तिसारां च व्यानशक्तिं, तुर्यदशारूपां तुर्यातीतदशारूपां च चिदानन्दघनाम् उन्मीलयति, तदा देहाद्यवस्थायामपि पतिदशात्मा जीवन्मुक्तिर्भवति।'' (प्र० हृ० टी०, सू० 12)

पञ्चम अध्याय

स्वातन्त्र्य सम्मत बन्ध-मोक्ष

पञ्चम अध्याय

(अ) बन्धः- काश्मीर शैव दर्शन अनुसार वास्तव में एक मात्र शिव ही सत्य है, न उसका बन्धन है और न ही उसकी मुक्ति है। बन्धन और मोक्ष केवल शिव की लीला ही है।[1]

(क) बन्ध का स्वरूप :- तन्त्रसार अनुसार आत्मा के वास्तविक स्वरूप से अनभिज्ञता अथवा अज्ञान को ही बन्धन तथा इसके फलस्वरूप उत्पन्न दुःख को ही बन्धन का लक्षण माना गया है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन के अनुसार भी बन्धन का कारण अज्ञान ही माना गया है।[2] स्वातन्त्र्य दर्पण अनुसार महेश्वर का अपने स्वरूप अथवा स्वातन्त्र्य का विस्मरण ही बन्धन होता है।[3]

(ख) बन्ध का कारण :-

1. **अज्ञान :-** अकल से लेकर सकल पर्यन्त सोपान क्रम से या अक्रम से अवरोहलीला का अभिनय ही बन्धन का कारण है।[4] यहाँ अज्ञान शब्द में 'न' निषेधार्थक न होकर अल्पार्थक ही होता है। इस दर्शन में आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप में सच्चिदानन्द स्वरूप, असीम, सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान् है, किन्तु माया के प्रभाव से अभिव्यक्त हुए पशुभाव में वह अपने को सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् न समझता हुआ अल्पज्ञ और अल्पशक्ति ही समझता है। इस प्रकार इसके अपने स्वरूप और अपने स्वभाव के ज्ञान में अतीव संकोच का अवभास होता है। यही इसका अज्ञान है, इसी अज्ञान को शिवसूत्र में बन्धन रूप कहा गया है।[5]

---

1. "बन्धमोक्षलीलावभासनमेव शिवस्य शिवत्वम्।।" स्वा० द० टी० 4/2
2. "अज्ञानं किल बन्धहेतुरुदितः शास्त्रे मलं तत्स्मृतम्"। तं० सा०, पृ० 5
3. "स्वभावविषयेऽथ विस्मृतिर्बन्धः।" स्वा० द० 4/1
4. "बन्धोऽवरोहलीला" स्वा० द० 4/3
5. "अज्ञानं बन्धः" शि० सू० 1/2

2. अज्ञान के प्रकार :–

शैव शास्त्रों में अज्ञान को दो प्रकार का माना है – बौद्ध एवं पौरुष।[1]

(i) **बौद्ध अज्ञान :–** पौरुष अज्ञान से प्रभावित जीव की बुद्धि ज्ञान संकोच का आश्रय बनकर तदनुसार ही समझती रहती है और तदनुसार ही अशुद्ध विकल्पों को करती रहती है। वस्तु को शिवरूप समझना ही शुद्ध विकल्प होता है और उसे प्रमेयरूप में समझना ही अशुद्ध विकल्प होता है। जीव (पशु) के इन अशुद्ध विकल्पों को करते रहने के स्वभाव को ही बौद्ध अज्ञान कहते हैं।[2]

(ii) **पौरुष अज्ञान :–** बौद्ध अज्ञान समझ का अज्ञान होता है और पौरुष अज्ञान मूल अज्ञान होता है। पौरुष अज्ञान के कारण पशुभाव का ही संस्कार अधिक उदित हुआ रहता है और पति भाव का संस्कार विलीन हुआ सा रहता है। बौद्ध अज्ञान में जीव अपनी बुद्धि के द्वारा अपने शरीरादि जड़ पदार्थों को ही निश्चयपूर्वक अपना आप समझता हुआ सांसारिक व्यवहार को चलाता रहता है। वह संकुचित अहंभाव और सीमित ममत्व से ही प्रेरित होकर सब कुछ करता है। इस प्रकार संसार के पदार्थों को शिवात्मक न समझता हुआ उन्हें निश्चयपूर्वक घर आदि जड़ वस्तु के ही रूप में समझता रहता है। अपने सीमित कर्तृत्व के अभिमान का निश्चय भी उसे बुद्धि के ही द्वारा होता है। इन

---

1. ''ज्ञानाज्ञानस्वरूपं यदुक्तं प्रत्येकमप्यदः।
द्विधा पौरुषबौद्धत्वभिदोक्तं शिवशासने।।'' तं० आ० 1/36
2. अहमित्थमिदं वेद्मीत्येवमध्यवसायिनी।
षट्कञ्चुकाविलाणूत्थप्रतिबिम्बनतो यदा।।
धीर्जायते तदा तादृग् ज्ञानमज्ञानशब्दितम्।
बौद्धं तस्य च तत् पौस्नं पोषनीयं च पोष्ट्ट च। तं० आ०, 1/39,40

दोनों अज्ञानों में पौरुष विषयक अज्ञान मल कहलाता है,[1] इसके कारण शिव के पूर्ण कर्तृत्व (स्वातन्त्र्य, ऐश्वर्य) एवं स्वरूप में आवरण हो जाता है, जिससे वह पशु कहलाता है।[2]

3. मलत्रय :- शैव शास्त्रों के अनुसार मल तीन प्रकार के कहे जाते हैं - आणव मल, मायीय मल और कार्म मल। ये मल परमेश्वर के स्वातन्त्र्य का संकोच ही तीन प्रकार के भेदों में अभिव्यक्त होता है[3]-

(i) आणव मल :- परमेश्वर अपनी प्रकाशरूपता को भूलकर कहीं शून्य को, कहीं प्राण को, कहीं बुद्धि को और कहीं शरीर को ही *'अहं'* अर्थात् अपना आप समझ बैठता है। इन जड़ भावों में ही अपने कर्तृत्व को ठहराता है। इस तरह से अपने आपको असीम प्रकाशरूप न समझते हुए उसे सीमित शून्य आदि ही के रूप में समझना एक प्रकार का आणवमल होता है।[4] अणु संकुचित को कहते हैं, जो अपनी पूर्णता को भूल जाता हुआ अनात्म (जड़) वस्तु को ही अपना आप समझता हुआ आणवमल का पात्र बन जाता है।[5] कोई कोई प्रमाता ऐसे भी होते हैं, जो अपनी शुद्ध प्रकाशरूपता को भूलते तो नहीं, परन्तु अपने स्वतन्त्र क्रिया शक्तिरूप ऐश्वर्य को भूल कर अपने आप को आकाश सदृश निष्क्रिय और ऐश्वर्यहीन शुद्ध और शूून्य प्रकाश मात्र ही समझते

---

1. ''तत्र पुंसो यदज्ञानं मलाख्यं तज्जमप्यथ।
   स्वपूर्णचित्क्रियारूपशिवतावरणात्मकम्।।
   संकोचि चित्क्रियारूपं तत् पशोरविकल्पितम्।
   तदज्ञानं न बुद्धयंशोऽध्यवसायाद्यभावतः।।'' तं० आ० 1/37,38
2. ''मलमज्ञानमिच्छन्ति संसारांकुरकारणम्।'' मा० वि० त० 1-16
3. ''स्वातन्त्र्यमेव हानिर्मालिन्यस्य त्रयश्च मलभेदाः।'' स्वा० द० टी० 9/1
4. ''स्वातन्त्र्यहानिर्बोधस्य स्वातन्त्र्यस्याप्यबोधता।'' ई० प्र० 2/2/4
5. ''सङ्कोच आणवः'' स्वा० द० 9/2

रहते हैं। यह दूसरे ढंग का स्वरूपसङ्कोच दूसरे प्रकार का आणवमल होता है।[1]

(ii) **मायीय मल :–** जब प्रमाता अपने वास्तविक स्वरुप की अनभिज्ञता से संसार को, परमेश्वर को तथा अन्य प्राणियों को अपने से भिन्न समझने लगता है, तब प्रमाता के इस भेदमय दृष्टिकोण का यह संकोच मायीय मल कहलाता है।[2] माया शैवदर्शन में भेदभूमिका का नाम होता है। इसीलिए भेदमय दृष्टिकोण के इस मल को मायीय मल कहते हैं।[3]

(iii) **कार्म मल :–** भेद दशा में परमेश्वर की क्रियाशक्ति ही सर्वकर्तृत्व से अल्पकर्तृत्व को प्राप्त होकर कर्मेन्द्रियों के रूपों में अत्यन्त परिमितता को प्राप्त हुई शुभाशुभ अनुष्ठानमय कार्म मल बन जाती है।[4] जीव का शुभाशुभ कर्म संस्कार से जकड़ित होना ही कार्म मल कहलाता है।[5] इसी के कारण जीवों (पशुओं) का जन्म–मरण एवं उनके अनुसार ही शुभाशुभ कर्मों का फल मिलता है।[6]

4. पञ्च या छट् कञ्चुक :– जब जीव माया एवं त्रिविध मलों से आच्छादित हो जाता है, तब माया एवं उसके साथ–साथ कला, विद्या, राग, काल और नियति भी अपना प्रभाव दिखाने लगते हैं। इनके प्रभाव के परिणाम स्वरुप जीव, जो कि वास्तव में शुद्ध चैतन्य स्वरुप शिव ही होता है, मलिन चैतन्य वाला पशु अथवा बद्ध कहलाने लगता है। माया और इन पाँच मालिन्यकारी

---

1. द्विधाणवं मलमिदं स्वस्वरूपापहानितः'' ई० प्र० 2/2/4
2. ''भिन्नवेद्यप्रथात्रैव मायाख्यम्'' ई० प्र० 2/2/5
3. ''स्यान्मायीयो भेददृष्टिरिति कथितः।'' स्वा० द० 9/2
4. ''क्रियाशक्तिः क्रमेण भेदे सर्वकर्तृत्वस्य किंचित्कर्तृत्वाप्तेः कर्मेन्द्रियरूप संकोचग्रहणपूर्वम् अत्यन्तं परिमिततां प्राप्ता शुभाशुभानुष्ठानमयं कार्ममलम्।।'' प्र० हृ० पृ० 66
5. ''शुभाशुभवासनात्मकम् कार्ममलम्'' शि० सू० वि० 1/4
6. ''कार्मस्तु पुण्यपापे संसृतिमूले'' स्वा० द० 9/2

तत्त्वों को संयुक्त रूप से छट् कञ्चुक अथवा माया के बिना पञ्च कञ्चुक कहते हैं,[1] क्योंकि यह आवरण रूप होने के कारण प्रमाता के वास्तविक स्वरूप को ढक देते हैं। शिव की दशा में होने वाला पूर्णकर्तृत्व किञ्चित्कर्तृत्वरूप कला, सर्वज्ञत्व, किञ्चित्ज्ञत्वरूप विद्या,[2] पूर्णत्व सीमितआसक्तिरूप राग[3], नित्यत्व भूत–वर्तमान– भविष्यत्रूप काल[4] और सर्वव्यापकत्व नियत देश, कारणादि रूप नियति बन जाता है।[5]

(आ) मोक्ष :– सिद्ध सोमानन्द अनुसार शिव के साथ अभिन्नता की प्रतीति ही मोक्ष कहलाता है और अप्रतीति बन्धन। इसलिए वास्तव में काश्मीर शैव दर्शन अनुसार शिव का न तो यथार्थ बन्धन होता है और न ही मुक्ति। वे दोनों शिव की इच्छा से अपनी माया शक्ति द्वारा गृहीत–अगृहीत संकोच–विकास की प्रतीति मात्र हैं[6], क्योंकि सभी (जड़–चेतन) में समान रूप से शिव ही अवस्थित होते हैं।[7] अभिनवगुप्त ने भी बोधपंचदशिका में इसी परमार्थ सत्य को स्थापित किया है।[8] बलजिन्नाथ पंडित ने भी अपनी रचना स्वातन्त्र्य दर्पण में बतलाया है कि बन्ध और

---

1. ''कथितस्तत्र पुमाख्यः, कञ्चुकषट्केन भाति सङ्कुचितः।
कालः कला च विद्या रागो, नियतिः स्वयं च माया तत्।। स्वा० द० 3/13
2. ''किञ्चिन्मात्रं ज्ञातुं कर्तुं वा, यत्त्विहापि सामर्थ्यम्।
सङ्कोचशालिनस्ते पुंसो, विद्या कला च बोद्धव्ये।।'' स्वा० द०, 3/15
3. ''निजदेहादौ तस्य प्रेयसि, वस्तुनि च योऽस्त्यभिष्वङ्गः।
सुगुणारोपणमय इव रागः, पुंसस्त्वसौ समाख्यातः।। स्वा० द० 3/16
4. ''कालः क्रमस्वरूपो, मातृत्वेनाभिमन्यमानस्य।'' स्वा० द० 3/14
5. ''कर्त्तव्ये बोद्धव्ये सर्वत्र, यथा नियम्यते नियमैः।
नियतिरसौ पुरुषस्य स्वातन्त्र्यनिरोधिनो प्रभोः शक्तिः।।'' स्वा० द० 3/17
6. ''शिवाभेदप्रतीतिमात्रं मोक्षस्तदप्रतीतिस्तु बन्ध इति तावता प्रतीति मात्रेण, ननु वस्त्वन्यथात्वे बन्धमोक्षयोर्बन्धमोक्षता।'' शि० दृ० वृ०, पृ० 126
7. ''एवं सर्वेषु भावेषु सर्वसाम्ये व्यवस्थिते।
तेन सर्वगतं सर्वं शिवरूपं निरूपितम्।।'' शि० दृ० 5/110
8. ''एतौ बन्धविमोक्षौ च परमेशस्वरूपतः।
न भिद्येते न भेदो हि तत्त्वतः परमेश्वरे।। बो० पं० 14

मोक्ष शिव के विलास मात्र ही हैं। सब में शिवत्व होने के कारण बन्धन किसका और मोक्ष किसका।[1]

(क) मोक्ष का स्वरूप :– स्वातन्त्र्य दर्पण में मोक्ष का स्वरूप बतलाते हुए कहा है कि महेश्वर के स्वातन्त्र्य से जीव की आरोह लीला का अभिनय ही मोक्ष कहलाता है अर्थात् सकल प्रमाता की दशा से क्रमशः अथवा अक्रमशः आरोह करके अकल (शिव) प्रमाता पर्यन्त आरूढ़ हो जाना ही मुक्ति अवस्था कहलाती है।

तात्पर्य यह है कि जीव यथार्थ में शिव रूप ही होता है, परन्तु माया, कञ्चुक एवं मलों के प्रभाव से अपने शुद्ध स्वरूप से अवरोहित होकर परतन्त्र वद्ध जीव बन जाता है।[2] गुरू, शास्त्र अथवा उपासनादि से पुनः अपने वास्तविक स्वरूप की एवं ऐश्वर्य की स्मृति होना अथवा अनुभूति होना ही मोक्षदशा कहलाती है।[3] ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शनी अनुसार अपने वास्तविक स्वरूप का अवभासन होने से परमैश्वर्य प्राप्ति ही मुक्ति कहलाती है।[4] मोक्ष की दशा में जीव शिव स्वरूप ही हो जाता है।[5] अर्थात् अपने वास्तविक स्वरूप की अभिव्यक्ति ही मोक्ष होता है।[6]

(ख) मोक्षहेतु :– मोक्ष से तात्पर्य है – शिवत्व अनुभूति। परन्तु स्वलीलावश परमेश्वर जब अपनी माया शक्ति के प्रभाव द्वारा मलों और कञ्चुकों से आवृत होकर परतन्त्र, बद्ध, पुरुष (जीव)

---

1. एवं कस्य तु बन्धः कस्य, च मुक्तिः कुतश्च को मोच्यः।
   चित्रं शिवमयमखिलं बन्धो, मोक्षः शिवस्य शिवतेयम्।।'' स्वा० द० 4/2
2. ''बन्धोऽवरोहलीला मोक्षश्चारोहखेलनं शम्भोः।
   कलनोभयस्य चित्रं माहैश्वर्य परं स्वतन्त्रत्वम्।।'' स्वा० द० 4/3
3. ''गुरूशास्त्रोपासनया प्रत्यवमर्शस्मृतिः पुनर्मोक्षः।'' स्वा० द० 4/1
4. ''प्रकाशमान एव यद् ''न प्रकाशते'', इत्यभिमननं, तदपसार्यते।
   तदपसरणमेव हि परमेश्वरतालाभो मुक्तिः'' ई० प्र० वि० 2/3/17
5. ''शिवतुल्यो जायते'' शि० सू० 3/25
6. मोक्षोहि नाम नैवान्यः स्वस्वरूपप्रथनं हि सः।। तं० आ० 1/156

दशा को प्राप्त हो जाता है तब उसमें अज्ञानता के आवरण के कारण शुद्ध प्रकाशरूप शिवत्व की अनुभूति नहीं होती। इसके पीछे दो कारण रहते हैं – बौद्ध अज्ञान अर्थात् बुद्धि के स्तर पर होने वाला अशुद्ध संकल्प–विकल्पात्मक ज्ञान। दूसरा पौरुष अज्ञान अर्थात् आत्मा के स्तर पर होने वाला अज्ञान। अतः स्पष्ट है कि शिवत्व प्राप्ति अथवा मोक्षहेतु ज्ञान आवश्यक है, जो इन उपर्युक्त उभय अज्ञानों के विपरीत बौद्ध ज्ञान और पौरुष ज्ञान रूप सें अपेक्षित है।

1. **ज्ञान :–** जिस प्रकार काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार एक ही परमार्थ सत्ता परमशिव है, उसी प्रकार उसका एक ही नित्य एवं सत्य ज्ञान है। ज्ञान से तात्पर्य है, आत्मपरमेश्वर के शुद्ध संवित् चैतन्यरूप, पूर्णस्वातन्त्र्य, पूर्णअहम् एवं सर्वशक्तिमत्तारूप का प्रत्यवमर्श (Self Awareness, अहम्प्रतीति)। तात्पर्य यह है कि जीव का गुरु, शास्त्र अथवा आध्यात्मिक साधनाओं के द्वारा आत्मज्ञान अथवा शिवता अनुभूति। इस पूर्ण ज्ञान की अनुभूति बौद्ध ज्ञान एवं पौरुष ज्ञान दोनों के द्वारा संयुक्त रूप से होती है, किसी एक के द्वारा पूर्ण ज्ञान सम्भव नहीं होता[1]–

(i) बौद्ध ज्ञान :– जिस समय जीव बुद्धि के स्तर पर अशुद्ध विकल्पों को त्यागकर शुद्ध संकल्पों द्वारा यह समझता है कि सारा जगत् उस परमसत्ता का ही रूप है सर्वत्र जड़–चेतन में उसी एक परासंवित् का विकास है। मैं भी शिवरूप ही हूँ। समस्त विश्व में ऐक्य का दर्शन करता है, तब उसमें बौद्ध ज्ञान

1\. (क) ''न चाप्रध्वस्तपौरुषाज्ञानस्यानेन (बौद्धेन ज्ञानेन) किञ्चिद्भवतीत्युक्तप्रायम्।
अन्यथा हि प्रेक्षावतां दीक्षायां प्रवृत्तिरेव न स्यात्।।'' तं० आ० वि० 1/44

(ख) ''दीक्षया गलितेऽप्यन्तरज्ञाने पौरुषात्मनि।
धीगतस्यानिवृत्तत्वाद्विकल्पोऽपि हि सम्भवेत्।।
देहसद्भावपर्यन्तमात्मभावो यतो धियि।
देहान्तेऽपि न मोक्षः स्यात् पौरुषज्ञानहानितः। तं० आ० 1/48,49

का अवस्थान माना जाता है। यह बौद्ध ज्ञान गुरू के उपदेश से और शास्त्रों के अध्ययन से होता है।

(ii) पौरुष ज्ञान :– पुरूष अथवा आत्मा के स्तर पर होने वाला ज्ञान पौरुष ज्ञान कहलाता है। यह तब तक सम्पन्न नहीं होता जब तक त्रिविध (आणव, मायीय और कार्म) मलों का अपशमन नहीं होता। ये मल आध्यात्मिक साधनाओं के अभ्यास द्वारा ही निवृत्त होते हैं। अतएव शैव शस्त्रों में शैवी योग (अनुपाय, शाम्भवोपाय, शाक्तोपाय और आणवोपाय आदि) साधना से समाधि अथवा समावेश का उपदेश दिया गया है।

(ग) मुक्तपुरुष :– जिस समय जीव को शिव अनुग्रह से, शास्त्र चिन्तन अथवा गुरूपदेश से यथार्थ ज्ञान हो जाता है कि मैं शिव ही हूँ। मुझमें, शिव में अथवा जगत् मे कोई भेद नहीं है। मैं शुद्ध संवित चैतन्यरूप हूँ तब वह मुक्त कहलाता है, जिसके भिन्न–भिन्न स्तर होते हैं –

(i) जीवनमुक्ति :– जिस साधक को यह निश्चय हो जाए, कि उसका वास्तविक स्वरूप शुद्ध संवित् ही है और परमेश्वरता उसका नैसर्गिक स्वभाव ही है, तथा जिसे क्रियात्मकतया भी अपनी परमेश्वरता का आंशिक अनुभव हो जाए, तो वह साधक सिद्ध पदवी को प्राप्त करता हुआ इस समस्त संसार को अपनी परमेश्वरता का विलास ही समझ लेता है। ऐसा समझने से वह संसार के बन्धनों में नहीं फंसता है। वह इस संसार को आत्मपरमेश्वर नामक महान् मदारी का खेल जैसा ही समझता हुआ इसके अनुकूल या प्रतिकूल दृश्यों से प्रभावित नहीं होता।[1]

---

1. ''तदेवं व्यपोहिते व्यामोहे, स्थितेऽपि तत्संस्कारमात्रविधृते शरीरादौ, अनात्मताभिमानपुरःसर एवात्मताभिमाने, घटादौ च प्रकाशमान एवानात्माभिमाने, ज्ञातेन्द्रजालतत्त्वस्य पश्यतोऽपीन्द्रजालं यथा न तत्त्वतो व्यामोहस्तथा प्रत्यभिज्ञातात्मस्वरूपस्य।'' ई० प्र० वि० 2/3/17

जब तक प्रारब्ध कर्म के अनुसार उसका शरीर ठहरता है, तब तक वह इस संसार रूपी महानाटक के दृश्यों का आस्वाद लेता हुआ लोकव्यवहार को भी चलाता रहता है। साथ ही अधिकारी साधकों को मोक्ष का मार्ग दिखाता हुआ उन पर अनुग्रह भी करता रहता है। यह उसकी जीवन्मुक्ति की दशा कहलाती है। शरीर को छोड़ देने के अनन्तर ऐसा महापुरुष परिपूर्ण शिवभाव के साथ प्रायः सर्वथा एक हो जाता है।[1]

(ii) विदेह मुक्ति :– समस्त चिरंजीवी और सारे के सारे मुक्तशिव भी अन्ततोगत्वा अपने अदिव्य और दिव्य शरीरों को छोड़कर विदेह मुक्त हो जाते हैं। जीवन्मुक्ति में अपने ऐश्वर्य का अंशतः आस्वाद आ सकता है; परन्तु विदेह मुक्ति में अनन्तकोटि ब्रह्माण्डों के विषय में सतत गति से चलते हुए पांचों पारमेश्वरी कृत्यों के ऐश्वर्य के आस्वाद का असीम चमत्कार होने लग जाता है। वह चमत्कार सर्वतः, सर्वदा और सर्वथा असीम और परिपूर्ण होता है। उसका वर्णन कौन कर सके। उसका अनुभव करने वाला तो एकमात्र स्वयं परिपूर्ण परमशिव ही होता है। मुक्तशिवों के ऐश्वर्य के साथ उसकी तुलना करना तो उसका महान् अपमान ही करना होगा। कहां जगदानन्द के चमत्कार का विशालतम और असीम समुद्र और कहां उस समुद्र की लहरों से छिटकने वाली बूंदें।[2] तो इस प्रकार की असीम तथा परिपूर्ण चमत्कार से भरी विदेह मुक्ति को पाना ही जीवन का चरम लक्ष्य होता है।[3]

---

1. (क) ''ततो निवृत्ते, प्रयाणप्रापितपर्यन्ते देहे परमेश्वरतैव।'' तदेव 2/3/17
   (ख) ''देहपाते तू परमेश्वर एवैकरस इति कः कुत्र समाविशेत्।'' तदेव 3/2/12
2. ''ते तु यदीयैश्वर्यविप्रुड्भिरीश्वरीभूताः स भगवाननवच्छिन्नप्रकाशानन्द स्वरूप–स्वातन्त्र्यपरमार्थो महेश्वरः।'' ई० प्र० वि० 1/1/1
3. ''स्वातन्त्र्यसारश्चासौ परमशिवः शक्तेः पातयिता,
   इति निरपेक्ष एव शक्तिपातो यः स्वरूपप्रथाफलः।'' तं० सा० पृ० 118

(iii) भैरवात्मिका मुक्ति :– जिस समय ज्ञानी महापुरुष स्थूल शरीर छोड़कर दिव्य सूक्ष्म शरीर अथवा दिव्यातिदिव्य शुद्ध सूक्ष्मात्मक शरीर प्राप्त कर लेता है, तो शिव इच्छा से उसमें संसार पर निग्रह और अनुग्रह लीला करने की सामर्थ्य आ जाती है। ये पारमेश्वरी क्रीड़ाओ (सृष्टिादि) के आनन्द का उपभोग करते हैं। ये मुक्तशिव तीन प्रकार (भेद, भेदाभेद और अभेद) के दृष्टिकोणों को रखने से क्रमशः सिद्ध शिव (विद्येश्वर), सिद्ध रुद्र (मन्त्रेश्वर) और (मन्त्रमेश्वर) तथा सिद्धभैरव कहलाते हैं। ये अकल भूमिका के सिद्ध होते हैं, जिन्हें भैरव के साथ परिपूर्ण अभेदता की अनुभूति रहती है।[1]

---

1. ''इत्थं तन्त्रं रुद्रशिवभैरवाख्यं स्थितं त्रिधा।
वस्तुतो हि त्रिधैवेयं ज्ञानसत्ता विजृम्भते।।
भेदाभेदेन भेदेन तथा चाभेदसन्धिना।।'' मा० वि० वा० 1/391,92

षष्ठ अध्याय

स्वातन्त्र्य दर्पण के अनुसार शिवत्व प्राप्त्युपाय

षष्ठ अध्याय

स्वातन्त्र्य दर्पण के अनुसार शिवत्व प्राप्त्युपाय :–

स्वातन्त्र्य दर्पण के अनुसार शिव परमार्थ सत्ता है। देश, काल और आकार उन्हीं से अवभासित होते हैं। अतः बन्धन से मुक्ति और शिव प्राप्ति के लिए इनकी साधनरूप में असमर्थता स्पष्ट झलकती है। वैसे भी शिव सर्वत्र, व्याप्त एवं नित्य तत्त्व हैं, अतएव उसके लिए उपाय का क्या प्रयोजन? जैसे सूर्य को हज़ारों दीपक प्रकाशित नहीं कर सकते, वैसे ही कोई भी उपाय अथवा साधन, जो कि उन्हीं द्वारा प्रकाशित होता है, कैसे उनको अभिव्यक्त करवा सकता है? जैसे धरती पर पानी हो और काई बगैरह से ढका होने के कारण दिखाई न दे, तो उसकी प्राप्ति के लिए केवल आवरण का हटाना अपेक्षित होता है, ऐसे ही सर्वत्र व्याप्त और सर्वात्मा शिव की प्राप्ति के लिए केवल अज्ञान आवरण को दूर करना अपेक्षित होता है। इसीलिए उपाय केवल अज्ञान आवरण को दूर करने के लिए लक्षित होते हैं अन्यथा शिव तो नित्य उपलब्ध रहते हैं। शैव शास्त्रों में इस अज्ञान आवरण को नष्ट करने के लिए अनेकों उपाय बतलाए गए हैं, जिनमें से स्वातन्त्र्य दर्पण में मुख्य रूप से इस प्रकार हैं[1] –

(क) अनुपाय :– किसी उत्कृष्टतर अधिकारी को शिवभाव का समावेश इच्छाशक्ति के प्रयोग के बिना भी एवमेव हो जाता है। उसे गुरू इतना ही समझा देता है कि – "देखो, तुम वस्तुतः शुद्ध संवित् ही तो हो। अतः स्वयं अपने प्रकाश से प्रकाशमान हो। तुम्हें प्रकाशित करने के लिए किसी भी उपाय की आवश्यकता नहीं। तुम स्वयं अपने स्वभाव से ही परिपूर्ण

---

1. "उपायजालं न शिवं प्रकाशयेद् घटेन किं भाति सहस्त्रदीधितिः।
विवेचयन्नित्थमुदारदर्शनः स्वयंप्रकाशं शिवमाविशेत् क्षणात्।।" तं० सा० पृ० 9

परमेश्वर हो। तुम्हारी परमेश्वरता भी स्वयं अपने प्रकाश से ही प्रकाशमान है। अतः तुम्हें उपायों की क्या आवश्यकता? फिर उपाय सबके सब तुम्हारी अपेक्षा से मलिन ही हैं। वे तुम्हें प्रकाशित नहीं कर सकते।[1] अतः बिना किसी उपाय के ही अपने ही भीतर अपनी परमेश्वरता का स्वयमेव विमर्श करो।'' इस प्रकार के उपदेश को सुन लेने पर शिष्य गुरु के अनुग्रह से, उसके दृष्टिपात से, उसके हस्तस्पर्श से, उसके हाथ से दिए हुए किसी भोज्य पदार्थ के खाने से, या इसी प्रकार के किसी अन्य हेतुमात्र से ही बिना किसी योग का अभ्यास किए, ऐसे ही शिवभाव के समावेश का अनुभव कर जाता है।[2] फिर उस समावेश के पुनः पुनः अभ्यास से उसको अपने शिवभाव का संस्कार इतना पक्का हो जाता है कि सांसारिक व्यवहार को करते हुए भी उसे शिवभाव के विमर्श का चमत्कार दिन रात चलता ही रहता है। इस प्रकार के समावेश को अनुपाय समावेश कहते हैं।[3] इस अनुपाय समावेश से ही प्राणी उत्कृष्ट जीवन्मुक्ति का पात्र बन जाता है। साथ ही साथ अपनी स्वभावभूत परमेश्वरता का साक्षात् अनुभव भी करता रहता है।[4]

(ख) शाम्भवोपाय :– जिन साधकों को इस अनुपाय, आनन्दयोग पर स्थिति न हो सके, उनके लिए त्रिक आचार में शाम्भवयोग का उपदेश किया गया है। इस शाम्भवोपाय को इच्छायोग या

---

1. ''....... समस्तमिदमेकं, चिन्मात्रतत्त्वं, कालेनाकलितं, देशेनापरिच्छिन्नम्, उपाधिभिरप्लानम्, आकृतिभिरनियन्त्रितं ..... स्वतन्त्रमानन्दघनं तत्त्वं, तदेवाहम्। तत्रैवान्तर्मयि विश्वं प्रतिबिम्बितम् एवं दृढ़ं विविञ्चानमय शश्वदेव पारमेश्वरः समावेशो निरूपायक एव। तस्य च न मन्त्रपूजाध्यानचर्यादि नियन्त्रणा काचित्।।'' तं० सा० पृ० 9
2. ''अतितीव्रभक्तिभाजामिह झगिति निरर्गलो जगद्भरितः।
अनुपायमेव संविद्रूपः प्रख्याति पूर्णशिवभावः।।'' स्वा० द० 10/5
3. ''इत्याकर्ण्य गुरोर्वाक्यं सकृत् केचन निश्चिताः।
विना भूयोऽनुसन्धानं भान्ति संविन्मयाः स्थिताः।। तं० आ० आह० 2, पृ० 3

इच्छोपाय भी कहा जाता है। इसे अभेदोपाय भी कहते हैं।[1] इस शाम्भवयोग में शरीर के द्वारा, मन के द्वारा, बुद्धि के द्वारा या प्राण के द्वारा कोई भी साधना नहीं की जाती है। इन सभी साधनों की क्रियाओं को शान्त करके चित्त को सर्वथा निश्चल बनाकर उसकी इस निश्चलता का खूब अभ्यास करना होता है।[2] आत्मज्योति तो सतत गति से स्वयमेव चमकती ही रहती है। परन्तु उसकी प्रकाशमानता चित्त के विकल्पमय आभासों की छाया के नीचे छिपी सी पड़ी रहती है। स्फटिक सर्वथा निर्मल ही होता है, परन्तु नील पीत आदि विविध रूपों के प्रतिबिम्ब जो उसमें पड़ते रहते हैं, तो उन प्रतिबिम्बों के आभासों के नीचे उसकी निर्मलता का आभास कुछ तिरोहित सा होकर रहता है। प्रतिबिम्बों के हट जाने पर स्फटिक की स्वच्छता का आभास फिर से स्फुट प्रतीत होने लग जाता है।[3] इसी तरह से चित्त के विकल्पों के शान्त हो जाने पर शुद्ध चेतना का प्रकाश स्वयमेव, चित्त की सहायता के बिना ही, चमकता हुआ साक्षात्कार का विषय बन जाता है।[4] विषय भी क्या बनता है? स्वयमेव अपने को ही अपने ही द्वारा अपरोक्षता से साक्षात् जानने लग जाता है।[5] उस साक्षात्कार का कर्ता, कर्म और करण, सब कुछ स्वयं

---

1. (क) ततोऽपि परमं ज्ञानमुपायादिविवर्जितम्।
आनन्दशक्तिविश्रान्तमनुत्तरमिहोच्यते।। तं० आ० 1/242
(ख) ''इच्छोपायः सोऽयं शाम्भवनामा'' स्वा० द० 10/12
2. पद्मासने शरीरं सहजसमं सुश्लथं स्थिरं चित्तम्।
अवहितमपि निर्विषयं नासाग्रस्थार्धमीलितां दृष्टिम्।। स्वा० द० 10/9
3. ''आदिक्षान्त विमर्शैः शक्तीस्त्वथवा निजाः प्रकाशे स्वे।
प्रतिबिम्बिताः प्रपश्यन् तत्त्वव्रातात्मकेन रूपेण।। स्वा० द० 10/11
4. ''स्वात्मानं शिवरूपं साक्षात्कुरुते समाविशन् सद्यः।
इच्छोपायः सोऽयं शाम्भवनामा परात् परो योगः।। तदेव 10/12
5. (क) ''अकिञ्चिच्चिन्तकस्यैव गुरुणा प्रतिबोधतः।
जायते यः समावेशः शाम्भवोऽसावुदाहृतः।।'' मा० वि० तं० 2/23
(ख) ''पाणी चाङ्के कृत्वा, पश्यनात्मानमात्मनिष्ठः सन्।
इच्छाप्रयोगवशतः शाम्भवमाप्नोति सत्समावेशम्।। स्वा० द० 10/10

बना रहता है। इस तरह से शरीर, वाणी, प्राण और चित्त के द्वारा न किसी विषय का ग्रहण करते हुए और न उसका परित्याग ही करते हुए, चलती हुए वायु से रहित स्थल पर जलते हुए दीपक की ज्योति की तरह स्थिति में स्वयं अपने में ही ठहरे रहने का अभ्यास शाम्भवयोग कहलाता है।[1]

(ग) मातृकोपाय :– इस शाम्भव–उपाय का दूसरा प्रकार वह होता है, जिसमें इच्छाशक्ति को ज्ञानशक्ति की थोड़ी सी सहायता मिलती है। परन्तु फिर भी प्रधानता इच्छाशक्ति की ही रहती है। इसमें आरम्भ में यह विमर्श करना होता है कि यह समस्त जगत् मुझ में ही प्रतिबिम्बित होता हुआ ठहरा है। इस प्रतिबिम्ब का बिम्ब भी मेरे से भिन्न कोई और वस्तु नहीं है। मेरी अपनी ही अनन्त शक्तियां मेरे ही शुद्ध प्रकाश में प्रतिबिम्बत होकर छत्तीस तत्त्वों के रूप में अभिव्यक्त हो रही हैं। ऐसा विमर्श करते हुए ही अपनी भिन्न–भिन्न शक्तियों के इस प्रतिबिम्बन का साक्षात् अनुभव करना होता है। उन शक्तियों का आकार उस अभ्यास में 'अ' से लेकर 'ह' तक की वर्णमाला के रूप में अभिव्यक्त हो उठता है और उनके प्रतिबिम्ब शिव से लेकर पृथ्वी तक के समस्त तत्त्वों के रूप में प्रकट हो जाते हैं।[2] अ से अः तक के सोलह वर्णों के रूप में तो शिवभाव के ही विविध चमत्कारों का साक्षात्कार हो जाता है। आगे शिव की विसर्ग शक्ति के भिन्न–भिन्न आकारों के प्रतिबिम्ब क से लेकर ह तक पृथ्वी तत्त्व से लेकर शक्ति तत्त्व तक के रूपों में विपरीत क्रम से अभिव्यक्त हो जाते हैं। प्रतिबिम्ब बिम्ब से प्रतीप अर्थात् उल्टा

---

1. ''निराधारं मनः कृत्वा विकल्पान्न विकल्पयेत्।
तदात्मपरमात्मत्वे भैरवो मृगलोचने।।'' वि० भै० 108
2. ''आदिक्षान्त विमर्शैः शक्तीस्त्वथवा निजाः प्रकाशे स्वे।
प्रतिबिम्बिताः प्रपश्यन तत्त्वव्रातात्मकेन रूपेण।। स्वा० द० 10/11

देखने में आता है। उसमें दायां वायां और बायां दायां दीखता है। इसी कारण से तो शिव की शक्तियों के प्रतिबिम्बों का दर्शन शक्ति तत्त्व से आरम्भ न होकर पृथ्वी तत्त्व से ही आरम्भ होता है और उल्टे ही क्रम से चलता हुआ शक्ति तत्त्व पर पहुंचकर ही समाप्त हो जाता है। तो क पृथ्वी तत्त्व के रूप में और ह शक्ति तत्त्व के रूप में अपरोक्ष भाव से प्रकाशित हो जाता है। बीच के वर्ण विपरीत क्रम से जल तत्त्व से लेकर सदाशिव तत्त्व तक के रूपों में प्रकाशित हो जाते हैं। अपने आप का, अपनी शक्तियों का, इन वर्णों का तथा इन तत्त्वों का साक्षात्कार एकरूपतया एक साथ ही हो जाता है। इस वर्णमाला को इस क्रम में मातृका कहते हैं। यह मातृका शाम्भवयोग में इस प्रकार से शिव और शक्ति के सामरस्य के रूप में अभेदभाव से स्वयं अपनी ज्योति से चमकती हुई साक्षात् अपरोक्षतया अनुभव में आती है। उसकी इस प्रकार की यह अनुभूति भी चित्त विकल्प की सहायता से न होकर स्वयं अपने ही प्रकाश से हुआ करती है। अतः यह मातृका का अभ्यास भी इच्छोपाय ही है; ज्ञानोपाय नहीं।[1]

(घ) शाक्तोपाय :– स्वातन्त्र्य दर्पण अनुसार शक्तोपाय को ज्ञानोपाय, भावनोपाय आदि नाम दिए गए हैं। इसे भेदाभेद–उपाय माना गया है। इस योग में शुद्ध विकल्पज्ञान का अभ्यास करना होता है।[2] अशुद्ध विकल्पों का संस्कार ही तो

---

1. ''एवं यथैतत् प्रतिबिम्बतं भाति तथैव विश्वं परमेश्पवर प्रकाशे। हेतुश्च विश्वप्रतिबिम्बधारित्वाच्च (बिम्बस्थानीयः) परमेश्वरशक्तिरेव भविष्यति। विश्वं चैतन्यस्य व्यक्तिस्थानमिति। तदेव विश्वात्मकत्वं भवगतः। संविन्मयं हि विश्वं चैतन्यस्य... प्रतिबिम्बधारित्वमस्य। तञ्च तावद् विश्वात्मकत्वं हि विश्वमत्र प्रतीपमिति प्रतिबिम्बधारित्वमस्य। तञ्च तावद् विश्वात्मकत्वं परमेश्वरस्य स्वरूपं न अनामृतं भवति। आमर्शश्चायं न सांकेतिकः अपि तु चित्स्वभावतामात्रनान्तरीयकः परनादगर्भ उक्तः। इत्यादि।'' तं० सा० पृ० 11,12
2. विश्वमिदं भावनया, स्वशक्त्यभिव्यक्ततामयं पश्यन्। विशति सुखेन शिवत्वं ज्ञानोपायः स शाक्तयोगाख्यः।।'' स्वा० द० 10/13

बन्धन होता है। इन विकल्पों को शुद्ध विकल्पों के अभ्यास से नष्ट किया जा सकता है। अशुद्ध विकल्प अबुद्धिगत विचारों और विश्वासों को कहते हैं, जिनके अनुसार प्राणी बुद्धि के स्तर पर शरीर आदि को ही अपना आप समझता है, शुद्ध संवित् को नहीं। संसार को अपने से भिन्न समझता है, अपना आप नहीं और अपने आप को अल्पज्ञ, अल्पशक्ति और अनीश्वर समझता है, सर्वज्ञ, सर्वशक्ति और सर्वेश्वर नहीं। "मैं शुद्ध संवित् हूँ। यह सब कुछ मुझ में ही ठहरा हुआ है। मैं सारे विश्व में ओतप्रोत भाव से ठहरा हूँ। यह सारे का सारा प्रपञ्च मेरी ही शक्तियों की विचित्र अभिव्यक्ति है।" इस–इस प्रकार के बुद्धिजन्य विकल्पों ज्ञान शुद्ध विकल्प कहलाते हैं।[1] जिन साधकों को अशुद्ध विकल्पों के गहरे प्रभाव के कारण शाम्भव–उपाय में चित्त ठहर न सके, उनके लिए शैव दर्शन के त्रिक आचार में इस शाक्त–उपाय नामक ज्ञानयोग का उपदेश किया गया है। शाम्भवयोग में साधना का कोई भी आलम्बन नहीं होता है। शाम्भवयोग की स्थिति में चित्त विलीन होकर रहता है। अतः आलम्बन का आश्रय कोई नहीं लेता। अतः वह योग निरालम्बन योग होता है। इस ज्ञानयोगात्मक शुद्ध विकल्पों के अभ्यास में प्राणी को अपने आप ही अपने चित्त का आलम्बन बन जाता है। साधक का चित्त उसके अपने आप ही के विषय में शुद्ध विकल्पों के ज्ञान का अभ्यास करता रहता है। अतः अपने वास्तविक स्वरूप और वास्तविक स्वभाव के यथार्थ और विकल्पात्मक ज्ञान की सतत परम्परा के द्वारा उन्हें अपनी बुद्धि पर पर्याप्त गहराई से

1. "विकल्पबलादेव जन्तवो बद्धमात्मानभिमन्यन्ते। सोऽभिमानः संसार प्रतिबन्धहेतुः। अतः प्रतिद्वन्द्विरुपों विकल्प उदितः संसारहेतुं विकल्पं दलयतीत्यभ्युदयहेतुः।" तं० सा० पृ० 21

अंकित करने के इस यथार्थ और शुद्धज्ञान परम्परा के अभ्यास का नाम शाक्त उपाय है।[1]

स्वातन्त्र्य दर्पण के अनुसार इस यथार्थ ज्ञान को विविध प्रकारों से चित्त् पर अंकित किया जा सकता है। वे सभी प्रकार शुद्ध विकल्पज्ञान के ही भिन्न–भिन्न आकार होते हैं। इनमें से सर्वथा मुख्य प्रकारों के पारिभाषिक नाम ये हैं – याग, होम, जप, व्रत और योग।[2]

(i) **याग** :– "सभी पदार्थ परमेश्वर में ही ठहरे हैं।" इस शुद्ध विकल्प को चित्तभूमि पर स्थिरतया आरूढ़ करने के लिए भावना के द्वारा प्रत्येक भाव का परमेश्वर को ही अर्पित करना याग कहलाता है।[3]

(ii) **होम** :– "सभी पदार्थ परमेश्वर के तेज से ही बने हैं" इस विचार को पूरी तरह से रूढ़ बनाने के लिए भावना द्वारा परमेश्वर को गलाकर तद्रूप बना देना होम कहलाता है।[4]

(iii) जप :– "उस प्रकार का वह परमेश्वर नामक परिपूर्ण,शुद्ध और असीम तत्त्व ही मेरा अपना स्वरूप है" इस भावना के परामर्श का पुनः पुनः अभ्यास करना जप कहलाता है।[5]

---

1. (क) "उच्चाररहितं वस्तु चेतसैव विचिन्तयन्।
यं समावेशमभ्येति शाक्तः सोऽत्राभिधीयते।।" मा० वि० तं० 2/22
(ख) "स च एवंरूपः समस्तेभ्यः परिच्छिन्नस्वभावेभ्यः शिवान्तेभ्यस्तत्त्वेभ्यो यदुत्तीर्णम् अपरिच्छिन्नसंविन्मात्ररूपं तदेव च परमार्थः ...... तदेव चाहम्। अतोविश्वोत्तीर्णो विश्वात्मा चाहम् इति।" तं० सा० पृ० 21
(ग) "तथाविधविकल्पप्रबन्ध एव सत्तर्क इत्युक्तः। स एव च भावना भण्यते। अस्फुटत्वाद् भूतमप्यर्थमभूतमिव स्फुटत्वापादनेन भावयते यथा इति।" तदेव पृ० 21
2. "अस्य च भेदा मुख्या यागो होमो जपो व्रतं योगः।
यत्राक्रमतो विश्वं भावनाया चिन्मयं स्फुटं भाति।।" स्वा० द० 10/14
3. "चिद्वह्नौ परमेशो समस्तभावार्पणं स्मृतो यागः।" स्वा० द० 10/15
4. "संविज्ज्वालापुञ्जे भावनया विश्वविलापनं होमः।।" तदेव 10/15
5. (क) "शुद्धः परिपूर्णो यः परशिवतत्त्वस्य संविदाभासः।
तस्य विकल्पाभ्यासः पुनः पुनर्यः स एव जपयोगः।।" तदेव 10/16
(ख) "एवं विधं तत् परं तत्त्वं स्वस्वभावभूतम्, इत्यन्तः परामर्शनं जपः।" तं० सा०, पृ० 26

(iv) व्रत :– सर्वत्र एक जैसे परमेश्वरभाव को ही दृढ़ विश्वास से देखने के लिए शरीर, घट, आदि समस्त जड़ भावों को भी परमेश्वररूप में ही पुनः पुनः देखना इस ज्ञानयोग का व्रत होता है।[1]

(v) योग :– जो परमेश्वर तत्त्व वस्तुतः विकल्प ज्ञान का विषय बन ही नहीं सकता है और जो अपने स्वभाव से ही स्वयमेव परमेश्वर रूप में सदा प्रकाशमान होता ही रहता है, उसी के विषय में उसी प्रकार के पक्के विश्वास को सुदृढ़ बनाने के लिए उस आत्मस्वरूप का उसी तरह से पुनः पुनः विमर्शन करना योग कहलाता है।[2]

(ङ) आणवोपाय :– जिन साधकों की चेतना पर मलों का अधिक जमाव हो और इस कारण से जिनका चित्त इस ज्ञान योग नामक शाक्त उपाय पार नहीं टिक सकता हो, उनके लिए काश्मीर शैव दर्शन के त्रिक आचार में आणव उपाय का उपदेश किया गया है। इस आणव उपाय के आणवयोग, क्रियायोग, क्रियोपाय, भेदोपाय आदि नाम भी होते हैं।[3]

आणव उपाय में चित्त को अपने से भिन्न वस्तुओं पर स्थिर करके भावना के द्वारा उन वस्तुओं को आत्मपरमेश्वर के रूप में ही समझने का अभ्यास किया जाता है। इस तरह से आणव योग भी शाक्त योग में ही परिणत हो जाता है। परन्तु

---

1. (क) ''परमेश्वरसमताभिमानेन देहस्यापि घटादेरप्यवलोकनं व्रतम्।''
तदेव पृ०27
(ख) ''परशिव–समतादृष्ट्या व्रतं हि विश्वावलोकनं स्पष्टम्।''
स्वा० द० 10/17
2. (क) ''तत् स्वरूपानुसन्धानात्मा विकल्पविशेषो योगः।'' तं० सा०, पृ० 27
(ख) ''परिपूर्ण–शुद्ध–संवित्–स्वातन्त्र्यस्यावमर्शनं योगः।।'' स्वा० द० 10/18
3. ''यदा तूपायान्तरमसौ स्वसंस्कारार्थं विकल्पोऽपेक्षते, तदा बुद्धिप्राणदेहघटादिकान् परिमितरूपानुपायत्वेन गृह्णन्नणुत्वं प्राप्तं आणवं ज्ञानमाविर्भावयति।''
तं० सा० पृ० 35

शाक्त योग में शुद्ध विकल्परूपी ज्ञान–अंश की ही प्रधानता होती है और इस आणव योग में प्रमेय वस्तु की धारणारूपी क्रिया के अंश की ही प्रधानता होती है। शाक्तयोग में आत्मतत्त्व के सर्वत्र छा जाने का अभ्यास किया जाता है। उसमें समस्त विश्व का सामान्य रूप से ही विमर्शन होता है और उसे आत्मरूप ही देखने का अभ्यास किया जाता है। उस आणवयोग में एक–एक प्रमेय पदार्थ को पृथक्–पृथक् धारणा में ठहराकर उसे अद्वैत स्वात्मस्वरूप शिवभाव में ठहराने की भावना का अभ्यास किया जाता है। इस तरह इस आणव उपाय में प्रमेय वस्तु के प्रति धारणात्मक क्रिया का अंश ही प्रधान रहता है और ज्ञान का अंश अप्रधान होकर रहता है। इसीलिए इस आणव उपाय को ज्ञानयोग न कहकर क्रियायोग ही कहा जाता है। इसके बहुत से भेद है – उच्चार योग, करण योग, ध्यान योग, वर्ण योग और स्थान कल्पना योग[1]–

(i) ध्यान :– आणव उपाय में चित्त के आलम्बन अपने स्वरूप और अपने स्वभाव से अन्य पदार्थ ही बनते हैं। इसी कारण इस उपाय को भेदोपाय भी कहा जाता है। वे अन्य पदार्थ मुख्यतया चार होते हैं – साधक की बुद्धि, साधक के प्राण, साधक का देह और बाह्य प्रमेय जगत्। बुद्धि को आलम्बन बनाकर जिस धारणा का अभ्यास किया जाता है, उसे ध्यानयोग कहते हैं।[2]

(ii) उच्चार :– प्राण–धारणा का यह प्रकार होता है। पुरुषतत्त्व पर और पाँच प्राणों पर भावना द्वारा विश्रान्ति के अभ्यास से

---

1. बुद्धिं प्राणं देहं बाह्यं मेयं शिवत्वपरमार्थम्।
भावनया परिपश्यन् विशेच्छिवत्वं क्रमेण यद् योगी।।
योगः स आणवाख्यः क्रियाप्रधानो बहुप्रभेदोऽसौ।
ध्यानं प्रथमो भेदः प्राणोच्चारस्ततः करणयोगः।। स्वा० द० 10/19,20

2. ''बुद्धिमालम्ब्य क्रियमानो योगो ध्यानयोगः।'' स्वा० द० टी० 10/21

क्रम से निजानन्द आदि छः आनन्दभूमिकाओं की पहले अनुभूति हो जाती है। हृदय में प्राण के उच्चार के साथ-साथ इस जगदानन्द की अवस्था में पर्यन्ततः विश्रान्त होने के अभ्यास को शैवी साधना में उच्चार-याग अर्थात् प्राण-योग कहते हैं।[1]

(iii) **करण** :- शैवी साधना की देहधारणा को करण-योग कहते हैं। यह योग आणवोपाय में अवरोहक्रम में तीसरे स्तर का होता है। इस धारणा में साधक अपने देह में तथा देह के भिन्न-भिन्न नाड़ी चक्रों में समस्त ब्रह्माण्ड की भावना करता हुआ और फलतः इन्हें स्वात्म परमेश्वर के ऐश्वर्य के ही रूप में सर्वव्यापक भाव में देखता हुआ अन्ततोगत्वा इन्हें परिपूर्ण स्वात्म परमेश्वर के ही रूप में साक्षात् अनुभव करता है।[2]

(iv) **वर्ण योग** :- करण योग से एक सोपान नीचे वर्ण योग होता है। इसको ध्वनि योग भी कहते हैं। प्राणशक्ति के प्रभाव से देह के भीतर एक विचित्र नाद होता है। उसे प्राणी कानों को बन्द करके सुन सकता है। इस नाद पर भी आणव योग का अभ्यास किया जाता है। उससे भी साधक का शिवभाव का समावेश हो जाता है। समस्त वर्णों के सामरस्य की ध्वनि ही यह नाद होता है। इसके अभ्यास में सृष्टि बीज और संहारबीज नामक वर्णात्मक ध्वनियों का भी चिन्तन किया जाता है। वैसे यह साधना सभी आणव साधनाओं में सबसे अधिक सरल और सुकर होती है। इसमें बिना ही विशेष यत्न के नाद पर चित्त एकाग्र हो जाता है।

---

1. "प्राणशक्त्यालम्बन उच्चारयोगः।" स्वा० द० टी० 10/21
2. "देहमुद्रालम्बनो देहस्य नाड़ीचक्राद्यालम्बनश्च करणयोगः।" स्वा० द० 10/21

शैवी साधना में इस अनहद नाद के साथ शिवभाव की भावना का अंश जोड़ देने से इसके द्वारा शिव समावेश हो जाता है।[1]

(v) **स्थान–कल्पना योग :–** जो साधक बुद्धि, प्राण और देह पर या नाद पर भी चित्त को न ठहरा सकें, तथा जिन्हें बाह्य धारणा में ही अधिक रूचि हो, उनके लिए शैव शास्त्र में बाह्य विषयों की धारणा का उपदेश भी किया गया है। आणवी साधना के इस योग को स्थान कल्पना कहते हैं। ये स्थान मुख्यतया तीन होते हैं – प्राणवायु, स्थूल शरीर और बाह्य जगत्। उपर्युक्त प्राण धारणा का विषय प्राणशक्ति की प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान रूप भूमिकाएँ होती हैं, परन्तु स्थान कल्पना के साथ जिस प्राण वायु का सम्बन्ध है, वह नासिका के छिद्र से बारह अंगुल बाहर के आकाश से शरीर के भीतर हृदय तक सञ्चार करने वाला प्रश्वास निःश्वासरूपी प्राण होता है।[2]

(च) भक्ति योग :– भक्ति से तात्पर्य है गुरू अथवा ईश्वर के प्रति अनन्य प्रेमपूर्वक श्रद्धाभावना। स्वातन्त्र्य दर्पण के अनुसार अज्ञान निवारण के लिए जिन आगमसम्मत उपायों का आश्रय लिया जाता है वे तभी साध्य की सिद्धि में साधक होते है, जब वे प्रगाढ़ श्रद्धा एवं विश्वासापूर्वक अनन्य भक्तिभाव से किये जाते हैं। भक्ति के बिना कहीं भी कोई भी अभीष्ट लक्ष्य की प्राप्ति करने में सफल नहीं हुआ है। अतएव ईश्वर की प्राप्ति के

---

1. ''प्राणध्वनिमालम्ब्य क्रियमाणो ध्वनियोगः।'' तदेव 10/21
2. (क) ''स्थूले शरीरे, श्वासप्रश्वासरूपे प्राणवायौ, वर्णमन्त्रपदरूपे कालाध्वनि कलातत्त्वभुवनरूपे च देशाध्वनि धारणां कृत्वाभ्यस्यमानो शिवभावभावनापरो योगः स्थानकल्पना।'' तदेव 10/21
   (ख) अथ बाह्यविधिः। स एव स्थानकल्पनशब्देनोक्तः। तत्र त्रिधा स्थानम्–प्राणवायुः, शरीरं बाह्यं च।। तं० सा० पृ० 42

साधक सभी प्रकार के उपायों के मूल में भक्ति ही एकमात्र मूल कारण मानी गई है।[1]

इसीलिए शैव दर्शन में भक्तियोग को सर्वोपरि माना गया है। यह प्रेमाभक्ति द्वारा पूजा, पाठ, स्तुति, जप, कीर्तन आदि का मार्ग होता है। उपायों की अपेक्षा भक्ति जीव को अधिक शीघ्रता से ईश्वर के समीप पहुँचा देती है। जहां विधि कठिन, कठोर और कष्ट साध्य होती है, वहीं भक्ति सरल, सुगम और सुःख साध्य होती है। जहां विधि के लिए साधन सम्पदा को जुटाना बड़ा दुष्कर होता है, वहीं भक्ति की साधन सम्पदा अनायास ही जुट सकती है। विधि में प्रायश्चित्तों की बड़ी आशंका रहती है, भक्ति में ऐसा नहीं होता। विधि में कोई त्रुटि आ जाए, तो साधना निष्फल हो जाती है। भक्ति में त्रुटि क्षम्य होती है। विधि के वश में आकर देवगण साधक की अभीष्ट कामना को पूरा करने को विवश हो जाते हैं। भक्ति से रीझकर वे उसकी अभिलाषा को पूरा करने के लिए स्वयं उत्सुक हो उठते हैं। विधि एक प्रकार का लेनदेन का व्यापार होता है। भक्ति एक प्रकार के स्नेह से सना हुआ हार्दिक सम्बन्ध होता है। इसीलिए आचार्य उत्पलदेव ने 'शिवस्तोत्रावली' में स्पष्ट शब्दों में कहा है कि जिनको भक्तिरूपी लक्ष्मी की सम्पदा प्राप्त होती है उनको और किसी सांसारिक सम्पत्ति की आवश्यकता नहीं रहती, परन्तु इससे रहित दरिद्र जीवों को क्या-क्या मांगने योग्य सम्पत्ति की अपेक्षा नहीं रहती ?[2]

---

1. "भक्तिश्चैका शस्ता सिद्धेर्मूलं ह्युपायजालानाम्।
न विना भक्ति किमपि क्वापि हि सिद्ध्यत्युपायकं जन्तोः।।"
–स्वा० द० 10/34

2. "भक्तिर्लक्ष्मीसमृद्धानां किमन्यतुपयाचितम्।
एतद् वा दरिद्रानाम् किमन्यतुपयाचितम्।। शि० स्तो० 20/11

(छ) विध्न :– प्रत्येक शुभ कार्य में विध्न होते ही हैं (श्रेयांसि बहुविध्नानि) इस कथन अनुसार शैव दार्शनिक मानते हैं कि यह भक्ति भी निर्विध्न नहीं होती। तात्पर्य यह है कि इस भक्ति मार्ग में भी बहुत सी घोरतर शक्तियां जीव के मन में प्रवेश अथवा प्रेरणा करके तरह–तरह के संशय, भ्रम एवं निषेधात्मक भाव उत्पन्न कर देती हैं, जिससे साधक का मन भक्ति में नहीं लगता अथवा उचाट हो जाता है। प्रत्युत् घोर शक्तियां उसे सांसारिक भोग विलासों की लालसा से मोहित कर भव चक्र में भ्रमाती रहती हैं। इसके विपरीत अघोर शक्तियां भी होती हैं, जो जीव को भक्ति मार्ग में प्रेरित करती हैं। उसके चित्त में श्रद्धा, प्रेम और विश्वास सहित अनन्य भक्ति को बढ़ाती हैं। अतएव स्पष्ट है कि संसारचक्र (जन्म–मरण) से छुटकारा और ईश्वर प्राप्ति के लिए किए जाने वाले उपायों के लिए भक्ति के इन विध्नों को दूर किया जाना आवश्यक है।[1]

(ज) महिमा :– इसीलिए शैव शास्त्रों में उपर्युक्त विध्नों के प्रशमनार्थ भक्ति सर्वोत्तम सरल साधन कही गई है, इसके प्रभाव से सब प्रकार से शिवभाव की प्राप्ति होने से भोग के साथ–साथ मोक्ष की भी प्राप्ति हो जाती है। शिव के अनन्य भक्त को कभी भी घोर और घोरतर शक्तियों के विध्न प्रभावित नहीं करते बल्कि अघोर शक्तियां उसको मोक्ष मार्ग में सहायता करती हैं।[2]

जिस जीव पर शिव के अनुग्रह का शक्तिपात होता है, उसके हृदय में ही भक्ति उत्पन्न होती है। इसी के माध्यम से

---

1. ''कुर्वन्ति यदाऽघोरा जीवं शक्तय उपायरुचिशीलम्।
तस्मिन्नेव निमेषे घोरतराः पातयन्ति भोगेषु।। स्वा० द० 10/35
2. ''विध्नानां प्रशमार्थं भक्तिस्तेषां प्रशस्यते शैवे।
भक्तिर्भुक्तिं मुक्तिं शिवभावं सर्वतोऽपि वा दद्यात्।। स्वा० द० 10/36

शास्त्र ज्ञान एवं सद् गुरू की प्राप्ति होती है। यह अभेदमयी भक्ति ही ज्ञान की परमभूमि और योग की परमदशा बतलायी गई है, इसीलिए यह पराभक्ति जीवन्मुक्ति ही है।[1]

भक्ति से हि मन्त्रदीक्षाकी प्राप्ति होती है और इससे ही मन्त्र फलवान् होते हैं। अतएव भक्ति से सब कुछ सम्भव होना बतलाया गया है।[2]

---

1. ''भक्तिस्त्वेव हि परमाऽनुग्रहलीला सदा महेशस्य।
भक्त्या हि शास्त्रबोधो भक्त्या लभ्यश्च सद्गुरुः शीघ्रम्।।'' तदेव 10/37
2. ''भक्त्या च मन्त्रदीक्षा लभ्या मन्त्राश्च वीर्यवन्तः स्युः।
भक्त्या गुरुत्वलाभः किं स्याल्लोके न यद् भवेद् भक्त्या।।'' तदेव 10/38

सप्तम अध्याय

स्वातन्त्र्य सिद्धान्त का अन्य दर्शनों में स्थान

सप्तम अध्याय

स्वातन्त्र्य सिद्धान्त का अन्य दर्शनों में स्थान –

भारतीय दार्शनिकों ने जगत् प्रपञ्च विषयक भिन्न–भिन्न विचार अपने–अपने मत अनुसार प्रस्तुत किये हैं, जिनका उनके दृष्टिकोण अनुसार तर्कसंगत औचित्य अभिव्यक्त क्या गया है। काश्मीर शैव के दार्शनिकों ने उनके मत का युक्तिसंगत निराकरण किया है –

(क) आरम्भवाद – आरम्भवाद न्याय वैशषिकों का सृष्टिपरक मत है। तदनुसार ईश्वर जगत् की सृष्टि करता है, इसलिए वह निमित्त कारण है और उपादान कारण के रूप में वह पृथ्वी आदि भूतों का जगत् निर्माण में उपयोग करता है, जैसे कुम्भकार घट की रचना के लिए मिट्टी इत्यादि उपादान सामग्री का प्रयोग करता है।[1] नैयायिकों के अनुसार भूतों के नित्य और अनित्य दो रूप होते हैं, जिनमें से पृथ्वी इत्यादि भूतों के स्थूल रूप अनित्य होते हैं और जबकि सूक्ष्म रूप नित्य होते हैं। ईश्वर जीवों के अच्छे बुरे कर्मों के फल दिलाने हेतु इन भूतों के उपयोग से विश्व प्रपञ्च की रचना करता है।[2] नैयायिक और वैशेषिकों में भूतों के सम्बन्ध में इतना ही अन्तर है कि न्याय वाले पृथ्वी इत्यादि भूतों के परमाणु रूपों से जगत् रचना मानते हैं, जो कि अदृश्य होते हैं और उनकों भागों में नहीं बांटा जा सकता। वैशेषिकों अनुसार अणु भूतों का सबसे छोटा रूप होता है, जिसको आंखो से देखा जा सकता है, जबकि नैयायिक इसको दो या दो से अधिक परमाणु के मेल से बनने वाला

---

1. ''ईश्वर इह सर्वज्ञो जीवानां भुक्तिमुक्तिदो विश्वम्।
   परमाणूपादानं कर्मनिमित्तं कुलालवत् सृजति।।'' स्वा० द० 6/9
2. ''परमकारूपिणका ईश्वरो जीवानां प्रारब्धकर्मानुसारमेव परमाणुभ्यो विश्वसृष्ट्यादिकं कुरुते।'' स्वा० द० टी० 6/9

संघात रूप मानते हैं। सृष्टि निर्माण के समय परमाणुओं के
मेल से बनने वाला अणु कहलाता है। ऐसे दो अणुओं के मेल
से द्वयणुक और पुनः ऐसे तीन अणुओं के भेद से त्रसरेणु, और
पुनः ऐसे चार त्रसरेणुओं के मिलाप से चतस्रेणु बनता है। इसी
प्रकार उत्तरोत्तर इनके भेद से स्थूल-स्थूल भूतों की उत्पत्ति होती
जाती है। इस प्रकार अणुओं अथवा परमाणुओं के मेल से सृष्टि
आरम्भ होने के कारण सृष्टि-प्रक्रिया सम्पन्न होती है, इसीलिए
इनके मत को आरम्भवाद कहते है।[1]

(क) **परिणामवाद** – सांख्यवादियों के मत को परिणामवादी कहते
हैं। क्योंकि इनके मतानुसार सत्त्व-रजस् तमो गुणमयी मूल
प्रकृति एक, नित्य और व्यापक तथा जड़ रूप होती है। पुरुष के
भोग और कैवल्य के लिए बुद्धि अहंकार आदि तत्त्वों के क्रम से
स्वरूप परिवर्तनात्मक परिणाम को स्वयं ही प्राप्त करती है।
उसका यह प्रवर्तकत्व एक तरफ से भोग और मोक्षात्मक
पुरुषार्थ होता है, दूसरी ओर से रजो गुण से किये जाने वाला
चाञ्चल्य होता है। यह सम्पूर्ण जगत् प्रकृति का परिणाम रूप ही
है, जिसमें तीनों गुणों का साम्य और वैषम्य रहता है।[2]

पुरुष चैतन्य रूप और साक्षिरूप होने पर भी अविवेक के
कारण बुद्धि में अपने प्रतिबिम्ब के तादात्म्य के कारण बुद्धि के
धर्म इत्यादि भावों को अपने समझते हुए बन्धन में फंस जाता
है। वास्तव में सुख-दुःखादि का कर्तृत्व बुद्धि का ही होता है।
इसीलिए बन्धन और मोक्ष भी प्रकृति (बुद्धि) का ही होता है।[3]
लेकिन उसके साथ मिलाप के कारण पुरुष उनको अपना समझ

---

1. ''सृष्टि-स्थिति-संहारान् कुर्वन्नारम्भकारितां भजते।'' स्वा० द० 6/11
2. ''सत्त्वरजस्तमोगुणमयी मूलप्रकृतिः पुरुषस्य'' स्वा० द० टी० 6/12
3. ''चैतन्यमात्रतत्त्वाः स्वं प्रतिबिम्बं च बुद्धिगं दृष्ट्वा।
अविवेक हताः पुरुषा भजमाना साक्षिभावमपि तत्र।।
भुञ्जन्ति बुद्धिधर्मान् सर्वाँश्चित्राँस्ततो ह्यमी बद्धाः।'' स्वा० द० 6/13,14

लेता है। पुरुष के प्रतिबिम्ब के कारण बुद्धि जड़ होते हुए भी चेतन की तरह भासित होती है[1] और इस प्रकार अविवेक के कारण परिणाम सन्तति रूप विश्वप्रपञ्च चलता रहता है।[2] जब विवेक के कारण प्रकृति पुरुष से अलग हो जाती है,[3] तब वह साक्षी उदासीन और कैवल्य रूप को प्राप्त होता है[4] और इस प्रकार मुक्त हो जाता है। इनके इस मत को परिणामवाद कहा जाता है।[5]

(ग) विवर्त्तवाद – विवर्त्तवादियों के अनुसार जगत् की सत्ता है ही नहीं, केवल ऐसा अवभासित होता है। जगत् के अवभास का कारण अज्ञानात्मिका अविद्या है। वह अविद्या अनादि है। उसको "ऐसी है या ऐसी नहीं हैं एवं सत्य है या असत्य है" इत्यादि विविध प्रकास से उसको वर्णित नहीं किया जा सकता है। परन्तु फिर भी वह निःसारा होती हुई भी मिथ्या ही है, न कि परमार्थतः सद्रूपा उसके हेतुभूत होने से भ्रमवश इस जगत् का अवभास मात्र होता है। वह अवभास अज्ञानमूलक होने से ज्ञान के उदय होने पर विलीन हो जाता है। ज्ञान उदय होने पर न तो अविद्या ही रहती है और न ही जगत् प्रपञ्च, इसी प्रकार न तो जीव और न ही सत्ता रहती है।[6]

ब्रह्म ही एकमात्र सत्य, सृष्टिादि क्रिया शून्य होने से शान्त, नित्य और सच्चिदानन्द रूप है। जिससे यह सम्पूर्ण जगत् प्रपञ्च का भेद वैचित्र्य भासित होता है, वह माया भी मिथ्या ही है।[7]

---

1. "पुरुष प्रतिबिम्बबलाद् बुद्धिस्त्वजडेव भासते नूनम्।।" तदेव 6/14
2. "अविवेकवशादेवं प्रचलति परिणामसन्ततितिर्विश्वम्।"
3. "ख्याति यदा तु विवेकः प्रकृतिर्विरता तदा स्वयं भवति।।"
4. "त्यजति ततः साक्षित्वं पुरुषः प्रकृतौ भवत्युदासीनः।" तदेव 6/16
5. "इयमेव तस्य मुक्तिः कथिता परिणामवादिभिः सुजनैः।।" तदेव 6/16
6. "गन्धर्वंननगरकल्पं त्वनाद्ययाऽविद्यया जगद् भाति।
   जीवस्य सापिमिथ्याऽविद्या नूनं न चापि निर्वाच्या।। स्वा० द० 6/17
7. "ब्रह्मैवैकं सत्यं शान्तं नित्यं च सच्चिदानन्दम्।
   मायापि हि सा मिथ्या ययात्विदं भाति भेदवैचित्र्यम्।।" स्वा० द० 6/18

''अखण्ड चिद् रूप ब्रह्म ही केवल वास्तविक सत्ता है'' – इस प्रकार की स्वयं तदात्मकता पूर्ण अनुभूति निश्चित् होने पर जीव शरीर त्यागने पर बिना किसी प्रयास के ब्रह्म में लीन हो जाता है, जैसे घट के नाश होने पर घटाकाश महाकाश में लीन हो जाता है। इस प्रकार की विचारधारा वाले अद्वैत वेदान्त दर्शन वाले विवर्त्तवाद आश्रित होते हैं। अविद्यमान जगत् की प्रतीति ही विवर्त्त कहलाता है, अन्य की अन्यथा प्रतीति ही विवर्त्त कहलाता है। इसलिए ब्रह्म की जीव, ईश्वर और जगत् रूप से प्रतीति विवर्त्त ही है। इसीलिए इनके मत को आभासवाद अथवा विवर्त्तवाद कहते हैं।[1]

(घ) बौद्धवाद – बौद्धों के प्रमुख मत शून्यवाद अथवा विज्ञानवाद प्रकारान्तर आभासवाद में क्रम से शुद्धशून्य ही अथवा विज्ञानमात्र निर्वाणदशा पर्यन्त होता है। अहमात्मक आलय विज्ञान और विषयावभासात्मक प्रवृति विज्ञान दोनों ही विलीन होते हैं। जीव, ब्रह्मादि सभी कल्पित हैं, वास्तविक में होता ही नहीं। इसलिए स्थूल जगत् या प्रकृति इत्यादि की भी सत्ता नहीं होती है।[2] जैसे असंख्य प्रवहणशील क्षणिक जल कणों को छोड़ कर कोई तत्त्वान्तर एक नदी नहीं होती, वैसे ही क्षणिक विज्ञानों को छोड़कर कोई भी अन्य वस्तुभूत आत्मा नहीं होती। जैसे उन क्षणिक जलकणों में एक नदी की कल्पना मात्र विकल्प बुद्धि से की जाती है, वैसे ही प्रवहणशील क्षणिक आलय विज्ञानों में

---

1. ''अखण्डचिद्रूपस्थ ब्रह्मण एव केवलस्य वास्तविको सत्तां स्वस्य चापि तदात्मकतामेव निश्चित्य देहपाते जीवो विनैवायासमेव ब्रह्मणि लीयते, भग्ने घटे घटाकाश इव महाकाशे। एष तावद् विवर्त्तवादाश्रितोऽद्वैतवेदान्तदर्शनस्याभासवादः। अविद्यमानस्य जगतः प्रतीतिर्विवर्त्तः, अन्यस्य च अन्यथा प्रतीतिर्विवर्त्तः अन्यस्य च अन्यथा प्रतीतिरपि विवर्त्तः।। ततो ब्रह्मणो जीवेश्वरजगद्रूपतया प्रतीतिरत्र विवर्त्तः। अत्रेत्याभासवदितमते। स्वा० द० टी० 6/19
2. ''बौद्धानां राद्धान्ते शून्यं सर्वं सदैव पर्यन्ते।
नास्ति ब्रह्म न जीवो नैव स्थूलं जगन्न वा प्रकृतिः।।'' स्वा० द० 6/20

विकल्प बुद्धि से ही एक स्थिर अहमात्मक आत्मा की कल्पना की जाती है। वस्तुतः तो ''अहमिति'' अभिमान भी क्षणिक आलय विज्ञान ही होता है। बाह्य और आन्तर प्रमेयसमूह विज्ञानात्मक चित्त के संस्कारों का आकारसमूह होते हैं, विज्ञानवादी बौद्धों का ऐसा स्वप्न संसार की तरह मत माना गया है। ''अहमिति'' आभास को आलय विज्ञान तथा नीलसुख इत्यादि के आभास को प्रवृत्ति विज्ञान कहते हैं।[1]

चित्त, मनादि मिथ्या ज्ञान की वासनाओं से आविष्ट सदैव प्रवाहशील रहते हैं, इसीलिए संसरण होता है। इसीलिए चित्त की वासना ही बन्धन का कारण है।[2]

क्लेशों के क्षीण होने पर और संसार से विरक्त होने पर विज्ञानात्मक चित्त में शून्य की भावना निश्चित् होने पर शरीर छूट जाने पर क्षणिक चित्त का दूसरा जन्म या पुनः जन्म नहीं होता। उससे चित्त प्रवाह का उच्छेद हो जाता है। वह ही शून्यभाव है। इसलिए वह दीपनिर्वाण तूल्य विनाश ही निर्वाण कहलाता है।[3]

इस प्रकार बौद्धों के मत में मुक्ति स्वात्मा के उच्छेद (चित्त प्रवाह के विनाश) से शून्यताभावरूप अभाव को ही माना गया है।[4]

(ङ) स्वातन्त्र्य सिद्धान्त – काश्मीर शैव दर्शन का कार्यकारण का सिद्धान्त स्वातन्त्र्यवाद कहलाता है। स्वातन्त्र्यवाद को सम्यक्

---

1. ''क्षणिकं हि तु विज्ञानं प्रवहत् सन्तानरूपतां गच्छत्।
अहमित्यभिमानपदं तस्याकाराः प्रमेयजातानि।।'' स्वा० द० 6/21
2. चित्तमनादिमिथ्याज्ञानवासनाभिराविष्टं सदेव प्रवहति, तेनैव च संसरति। ततो चित्तस्य वासना एव बन्धनस्य कारणम्।'' स्वा० द० टी० 6/22
3. ''निश्चित्य तु शून्यत्वं परमार्थत्वेन सर्वभावानाम्।
क्लेशक्षयादिपूर्वं विरज्य देहं त्यजत्तु विज्ञानम्।
क्षणिकं नहि सन्तानं जनयेन्निर्वाणशून्यतां गच्छेत्। तदेव 6/23,24
4. ''इत्थं तेषां मुक्तिः स्वात्मोच्छेदेन शून्यताभावः।'' तदेव 6/24

समझने और अन्य दर्शनों में इसका स्थान निर्धारित करने के पहले अन्य दर्शनों की कार्यकारणवादिता मत का समीक्षण कर लेना अत्यावश्यक है, जो इस प्रकार है – पूर्व कथित आरम्भवाद, परिणामवाद, विवर्त्तवाद और बौद्धवाद शैव दर्शन के अनुसार अंशतःयुक्त हैं और परमंशतःअयुक्त भी। जिस भूमि में प्रजापति (ईश्वर) अपने से भिन्न परमाणुओं द्वारा जगत् का निर्माण करता है, उस दशा पर्यन्त ही न्याय–वैशेषिकों का आरम्भवाद युक्तियुक्त है न कि उससे ऊपर। इसी प्रकार शब्दादि और आकाशादि तथा बाह्य–आन्तर करणों की प्रकृति पुरुष की भूमिका पर्यन्त तर्कसंगत ही है, परन्तु उसके ऊपर सांख्य की परिणामवाद की गति नहीं है।[1]

स्वाभाविक रूप से विकल्प तो वस्तुशून्य होता है। इसलिए उसका आभासमात्र ही जगत् है, ऐसा जो बौद्धों और वेदान्तियों ने आभासादि द्वारा कहा है, वह भी सम्यक् ही है। परन्तु पारमेश्वर की स्वातन्त्र्य महिमा से ही अविद्या का आभास होने से विकल्पों का आभास होता है, न तो आदि अविद्या और न ही मूलतः वासना से। आभास के होने पर ही प्रकृति का परिणाम होता है, परिणाम के सम्पन्न होने से ही परमाणु से जगत् का आरम्भ होता है। इसलिए इन सब के मूल आधार रूप में स्वातन्त्र्य ही प्रकाशित होता है।[2]

न्याय–वैशेशिक मत अनुसार परमाणु संयोग से द्वयणिकादि क्रम से जगत् आरम्भ होता है और संयोग द्रव्यों के एक तरफ से ही होता है। इसलिए परमाणु के सपार्श्वत्व होने से उसका

---

1. ''भिन्नां प्राजापत्यो सृष्टिं यावत्त्वबाध आरम्भः।
कार्यकरणवर्गस्य प्रधानतो युक्त एव परिणामः।। स्वा० द० 7/2
2. ''सर्वस्यविकल्पस्यावस्तुत्वेनैव साधुराभासः।
त्रितयस्य परं बींज पर्यन्ते यत्तु तत् स्वतन्त्रत्वम्।।'' स्वा० द० 7/3

सांशत्व हुआ, और जो सांश हो उसका परमाणुत्व नहीं हो सकता क्योंकि उसको निरंशत्व माना जाता है। इसी तरह परमात्मा (ईश्वर) के सृष्ट्यादि करण में परमाणु अपेक्षत्व, और जीवकृत कर्म अपेक्षत्व होने से उस पर पारतन्त्र्य दोष आ जाता है। दूसरी ओर जीव का अपवर्ग की अवस्था ज्ञानादि से शून्य हो जाना मुक्ति का जाड्यतुल्यत्व सिद्ध करता है। इसी प्रकार एक अवयवी के एक ही काल में अनेक अवयवनिष्ठ होना असमञ्जसय को द्योतित करता है।[1] इस प्रकार शैव दर्शन अनुसार आरम्भवाद यथार्थ कार्य–कारणवाद को प्रस्तुत नहीं करता है।

सांख्य दर्शन की प्रकृति जड़ स्वभाव होने के कारण कैसे विचित्र जगत् की रचना करने में समर्थ हो सकती है? अनन्त वैचित्र्ययुक्त विचित्र अर्थ क्रियाकारीभावसमूह की सृष्टियादि में तत् तत् प्रयोजन अनुसन्धान भाव आवश्यक हैं और वह अचेतन प्रधान में सम्भव नहीं। पुरुष भी आकाशतुल्य होने से नाममात्र के चैतन्य वाला होता है। दूसरी ओर चेतनयोग्य ज्ञान–क्रिया स्वातन्त्र्य को तो परिणामवादी प्रधान का मानते हैं। दूसरे, कर्मकर्तृत्व बुद्धि का मानते हैं और फल भोक्तृत्व पुरुष का मानते हैं – यह भी अनुपयुक्त बात है। इसी प्रकार ज्ञान क्रिया के स्वातन्त्र्य से रहित उनकी कैवल्यदशात्मिका मुक्ति भी जाड्यतुल्या ही है।[2] इस प्रकार शैवों अनुसार सांख्य वालों का परिणामवाद भी दोष युक्त है।

---

1. ''परमाणुत्वमसिद्धं सततं परमात्मनोऽस्वतन्त्रत्वम्।
मुक्तिश्च जाड्यकल्पाऽऽरम्भेऽसिद्धस्तथावयविभावः।।'' स्वा० द० 7/4
2. ''प्रकृतिर्जडा स्वभावात्कथं विचित्रं जगत् स्वयं जनयेत्।
पुरुषोऽपि नभः कल्पोनैवं तुष्टिप्रदोऽस्ति परिणामः।। स्वा० द० 7/5

वेदान्त मत में न तो ब्रह्म का अविद्याकृत प्रपञ्च माना जाता है क्योंकि वह ज्ञानरूप है और इसी प्रकार न ही जीव का ही प्रपञ्च माना जाता है, क्योंकि वह ब्रह्म से भिन्न नहीं है। तो इस प्रकार अविद्या कहां से आई? उसका क्या कारण है? यदि ब्रह्म की तरह अनादि मानी जाए, तो द्वैतवाद का दोष आ जाता है। स्वयं असारा होने पर भी वह कैसे अनिर्वाच्या है? यदि वह भासित नहीं होती तब उससे कुछ भी नहीं हो सकता है। दूसरे, विश्व के मिथ्यात्व में गुरू, शास्त्रादि के उपयोग का क्या महत्त्व है और ऐसे बन्धन और मोक्ष किसका होगा?[1] इसी प्रकार ब्रह्म के भी स्वनिष्ठ, शान्त, गगनसमान और स्पन्दहीन एवं शून्यकल्प होने से उसकी सत् चित् आनन्दरूपता कैसे सिद्ध हो सकती है? क्योंकि आनन्द स्फुरत्तास्वरूप चमत्कारात्मक परतर क्रियारूप होता है इसी प्रकार चित् स्वप्रकाशरूप तथा सत्ता भी स्फुरत्तारूप होती है।[2] अद्वैत वेदान्त में केवल ब्रह्म के ही सत्य होने से जीव कौन है, बद्ध कौन है, मुक्त कौन है, गुरू कौन है, शिष्य कौन है, शास्त्र क्यों है? इत्यादि सभी बाते अनुपपन्न हो जाती हैं। ब्रह्म की उपाधिरूपा माया कौन है, वह कहां से आयी, वह ब्रह्म से कैसे संबद्ध हो गई? इस प्रकार की अनेकों बातें हैं जिनका वेदान्तवादी सन्तोषजनक उत्तर नहीं दे पाते।[3] इस प्रकार शैवों वेदान्तियों के मत को भी दोष पूर्ण सिद्ध किया है।

बौद्धों के मत का खण्डन करते हुए स्वातन्त्र्य दर्पण में कहा गया है कि यदि क्षणिक ज्ञान संतति को ही आत्मा माने तो अविकल्प–विकल्प अनुभवों का, स्मृतियों का और प्रत्यभिज्ञा आदि

---

1. ''सर्वं यदास्तिमिथ्याकस्य कुतो वास्ति हा प्रपञ्चोऽयम्।
कस्य कुतश्चाविद्याभान्त्यपि खलु सा कथं न निर्वाच्या।।'' स्वा० द० 7/5
2. ''ब्रह्मापि चेत् स्वनिष्ठं शान्तं गगनोपमं तथास्पन्दम्।
काऽऽनन्दताथ चित्ता सत्ता वा तस्य शून्यकल्पस्य।।'' स्वा० द० 7/7
3. ''ब्रह्मैव च यदि सत्यं को जीवः का कुतश्च वा माया।
नैवं हि तुष्टिकारी सूक्ष्मधियामस्ति वेदवादोऽयम्।। तदेव 7/8

का एक आधार समन्वित रूप से न होने पर व्यवहार सम्पन्न नहीं हो पाएगा। यदि ऐसा माने कि निर्विकल्प-सविकल्प आदि ज्ञान समूह परस्पर भिन्न होते हुए एक आश्रय में स्थित न होते हुए परस्पर समन्वित हो जाते हैं, तब उन ज्ञानों के परस्पर अनुसन्धान से उत्पन्न लोकव्यवहार व्यवस्था सर्वथा नष्ट हो जाएगी। इसलिए इन ज्ञानों की एक आधार रूप से आत्मा की सिद्धि होती है। यदि इस एक स्थिर आत्मा का निषेद कर दें, तो क्षणिक चित्त की अस्थिरता से उन ज्ञानों के एक आधार रूप किस तत्त्व को ग्रहण किया जाएगा? बौद्धवाद में ज्ञान के आधार की अस्थिरता ही मुख्य दोष है। द्वितीय दोष लोक व्यवहार की अनुपपत्ति है। निर्वाण अवस्था में चित्त सन्तानात्मक अहम् प्रत्यय आलम्बन का जो समुच्छेद माना जाता है, वह भी उनका महान् दोष है क्योंकि किसी का भी अपना उच्छेद अभीष्ट नहीं माना जाता।[1]

(ङ) स्वातन्त्र्य सिद्धान्त – स्वातन्त्र्य दर्पण अनुसार सृष्टि, *स्थिति*, संहार, निग्रह और अनुग्रह आदि पाँच प्रकार के कृत्य परमशिव स्वयं ही करता है। उसको इनको करने के लिए अपने से भिन्न किसी भी निमित्त उपादान कारण, शुभ-अशुभ कर्म, आकाशादि भूतों के परमाणु आदि, राग-द्वेष आदि संस्कार, सत्त्वादि गुण और अविद्या इत्यादि की आवश्यकता नहीं पड़ती, वह अपनी ही इच्छा से स्वयं ही तत् तत् रूपों में विलसित होता है। यह उनका नैसर्गिक स्वभाव है और परमस्वातन्त्र्य है।[2] इस स्वातन्त्र्य

---

1. ''आत्मास्थैर्यं दोषः क्षणिकत्वेज्ञानसन्ततेर्मुख्यः।
व्यवहारानुपपत्तिः स्वात्मोच्छेदस्तथा न योऽभीष्टः।।'' स्वा० द० 7/9

2. ''नैयायिकमते परमेश्वरः परमाण्वाद्यपेक्षते। न्यायसांख्यवेदान्तेषु कर्मापेक्षं तस्य सृष्टयादि। बौद्धवादे वासनापेक्षः संसार। सांख्रजोगुणापेक्षा सृष्टिः। वेदान्तेऽविद्यापेक्षमीश्वरस्येश्वरत्वम्। शैवे पुनः स्वतन्त्रं स्वभावभूतं च पारमैश्वर्यं परमशिवस्य येनानिरुद्धेच्छः सन्नसौ स्वयं स्वस्मिन् स्वतः पञ्चकृत्यलीलाविलासं विधत्ते।।'' स्वा० द० टी० 8/3

की ही महिमा से परमेश्वर स्वयं ही सकल जगत् की रचना करता है। अपने ही प्रकाश में अपनी शक्ति के प्रतिबिम्ब से उत्पन्न अर्थसमूह को प्रकाशित करता है।[1]

वास्तव में प्रकाश–विमर्श स्वभाव वाला आत्मा ही 'अहमिति' सदावभास सत्य है, अन्यथा सब प्रकल्पित है।[2] यह आत्मा अद्वैत, शुद्ध संविद् रूप है और स्वतः सिद्ध है।[3] किसी देश, काल और आकार तथा प्रमाण इत्यादि से परिच्छिन्न नहीं है, क्योंकि वे इसी के प्रकाश से प्रकाशित होते हैं। यह विविध कल्पना के राहित्य से अविकल्प रूप है।[4]

सारा ही जगत् परमशिव में संवित् रूप में सदा ही विद्यमान रहता है, जैसे बीज में बीजरूपता से अंकुर रहता है, जो शक्ति बीज में अंकुर को अवभासन करने की रहती है, वह शक्ति ही वहां अंकुर का स्वरूप होती है। इसीलिए अंकुर बीज में शक्ति रूपता से विद्यमान रहता है। वैसे ही विश्व परमेश्वरी संवित् में संवित् रूपता से सदा विद्यमान रहता है। परमेश्वर में शक्ति रूप से अभेद रूप में विद्यमान विश्व पारमैश्वर्य विलास से परमेश्वर की इच्छा का विश्वाकारता से भेद से भी अवभासित होता है – ऐसा सिद्धों का सिद्धान्त है। इसीलिए ही शैव दर्शन का अनुसरण करने वाले स्वातन्त्र्य दर्शनवादी शैव परमेश्वर का शक्तिधनत्व रूप परम स्वातन्त्र्य ही विश्वावभास का कारण मानते है।[5]

---

1. "स्वातन्त्र्ययस्य महिम्ना कल्पितमखिलं स्वतो महेशेन।" स्वा० द० 8/4
2. "परमार्थत आत्मैव प्रकाशरूपो विमर्शसारश्च। अहमिति सदावभासः सत्यः शेषं प्रकल्पितं सर्वम्।।" स्वा० द० 8/5
3. "अद्वैतशुद्धसंविद्रूपः स्वात्मात्वसौ स्वतः सिद्धः।" स्वा० द० 8/6
4. "अभिन्ने परिपूर्णे चाहमिति संविदाभासेऽभिन्नत्वादेव न विविधत्वकल्पनासम्भवः। ततोऽसावहमिति संविदविकल्पैव।" स्वा० द० टी० 8/6
5. "स्वातन्त्र्यदर्शिनस्त्वाभासे हेतुं पुनर्महेशस्य। परमं यत् स्वातन्त्र्यं शक्तिघनत्वं तदेव मन्यन्ते।।" स्वा० द० 8/11

माया की दशा में प्रमाता और प्रमेय में भेद स्पष्ट दिखाई देता है इसीलिए विश्व इदन्ता रूप से भासित होता है। परन्तु वैसे अवभासमान होते हुए भी वह सत्य ही अवभासित हो रहा होता है न कि असत्य रूप में, क्योंकि उसमें अर्थक्रिया उपयोगिता रहती ही है।[1] विद्या की दशा में माया की भेदमयी दशा की अपेक्षा भेदाभेद प्रतीति होती है। इसलिए वहां 'अहमिदम्' अथवा 'इदमहम्' विमर्श में इदमात्मक प्रमेय अपने शरीर की तरह भिन्न होते हुए भी अभिन्न रूप में भासित होता है। उस प्रकार से भासमान होते हुए सत्य रूप में ही अवभासित होता है न कि असत्य। विद्या की दशा में इदमात्मक प्रमेय अहमात्मक प्रमातृता से सुसिक्त की तरह होता है,[2] इसीलिए उस दशा का व्यवहार मायीय व्यवहार की अपेक्षा शुद्ध होता है।[3] शक्तिभूमि में सर्वथा अभेद होता है, इसीलिए वहां सब कुछ परिपूर्ण अहम् रूप ही होता है।[4] इदम् अंश भी उसमें अहम् रूपता से ही प्रकाशित होता है, जैसे बीज में बीजातमकता से अंकुर भासित होता है। इसलिए वहां विश्व अहमात्मकता से वर्तमान सत्य ही होता है, क्योंकि शिव ही उस–उस भूमिका में वैसे वैसे भासित होता है, अतएव सबका शिवात्मकत्व होने से सब परिपूर्ण सत्य ही है। घट भी परिपूर्ण शिव ही है। जैसे परमशिव स्वातन्त्र्य शक्ति की महिमा से सत्–असत् व्यवहार के आभास के मूल कारण होते हैं, वैसे ही घटादि भी, उसके भी परमशिवात्मकत्व होने से। इसी प्रकार मोक्ष भी शिवात्मक है और बन्धन भी वैसा ही है। पराद्वैत

---

1. ''भेदमये व्यवहारेत्विदमिति सत्यं हि भासते विश्वम्।'' तदेव 8/13
2. ''भेदाभेददशायां सर्वं सत्यं निजाङ्गकल्पञ्च'' तदेव 8/13
3. ''शुद्धोऽसौ व्यवहारोऽहन्ताच्छुरितत्वतस्त्विदन्तायाः।'' तदेव 8/14
4. ''पूर्णाभेदपदस्थं सर्वं पूर्णं सदाहमिति सत्यम्।'' स्वा० द० 8/14

सिद्धान्त में कहीं भी कोई भी भेद नहीं माना जाता। सिद्धजन सब कुछ वैसा ही देखते हुए कृत्य-कृत्य हो जाते हैं।[1]

वह परमेश्वर मन, वाणी और काय की पहुँच से परे है, क्योंकि सब कुछ परशिवात्मक रूप है, इसलिए वाणी पूर्ण रूप से कुछ कहने, बुद्धि पूर्ण रूप से जानने एवं शरीर कुछ करने में असमर्थ है। परमेश्वर के स्वात्म एवं अनुत्तर स्वसंवेदनरूप होने से उसका परोक्षरूप से ही साक्षात्कार सम्भव है।[2] जब सब परिपूर्ण शिवात्मक ही है, तब 'अहमपि' स्वतन्त्र परशिव ही है। इसलिए सभी जन परमार्थरूप से परमशिव ही है। परन्तु पशु प्रमाताओं को माया के आवरण के कारण वैसा अभिमान नहीं होता।[3] क्योंकि परमेश्वर के निज स्वातन्त्र्य से जीव दशा में अवरोह कल्पित होता है, इसीलिए पशु (जीव) को अपना परमार्थ रूप समझ में नहीं आता।[4]

जीव दशा की अपेक्षा से ही स्वातन्त्र्य की द्विस्वरूपता कल्पना की गई है। एक तो परमेश्वर की स्वभावभूत उच्छलनस्वरूपा पारमार्थिकी स्वतन्त्रता जिसके द्वारा ब्रह्मादि कारण पंचक सहित ब्रह्माण्डों का सृष्टि-संहारादि लीला विलास सदा चलता रहता है, दूसरी लोक व्यवहार आश्रयरूपा।[5] व्यवहार में जीव कष्टमय जीवन जीता हुआ सदा चिन्ताशील रहते हुए परतन्त्र ही रहता है, वास्तविक स्वभाविकी स्वतन्त्रता का अनुभव

---

1. ''याथार्थ्येन तु सर्वं परमं सत्यं शिवत्वपरमार्थम्।
पूर्णं स्वातन्त्र्यवशात् सदसद्व्यवहारभासनाबीजम्।।'' तदेव 8/15
2. ''वाचा बुद्ध्यागम्यं व्यवहारस्पर्शयोगतः शून्यम्।
साक्षात्कार्यं स्वेन स्वयमेव स्वं ह्यनुत्तरं किमपि।।'' स्वा० द० 8/16
3. ''पूर्णः स्वयं स्वभावात् संविद्रूपः शिवः स्वतन्त्रोऽहम्।
इत्येव हि परमार्थो नैव परं बुद्ध्यते तथा पशुभिः।।'' तदेव 8/17
4. ''जीवदशास्ववरोहो बहुधा स्वातन्त्र्यकल्पितो हि यतः कल्पितपशुताभूमौ।'' तदेव 8/18
5. ''द्विविधा स्वातन्त्र्यकल्पनापि पुनः। परमार्थतया त्वेका योक्ता समनन्तरं स्वभावमयी अपरा व्यवहारतया।'' स्वा० द० 8/18,19

नहीं कर पाता। वास्तव में आधिव्याधि रहित सुखमय जीवन शरीर और हृदय का स्वातन्त्र्य होता है। अभीष्ट ज्ञान विज्ञान उपार्जन में साधन सुलभता और निरोध राहित्य बौद्धिक स्वतन्त्रता होती है। सकल जनता के योगक्षेम उपयुक्त अपराधीन आर्यसेवित प्रशासन राजनैतिक स्वातन्त्र्य होता है। सभी लोगों के उपयुक्त समुचित वृत्ति उपार्जन के अनुकूल परिस्थितिजनक धन आर्थिक स्वतन्त्रता होती है, इसीप्रकार व्यक्तिगत स्वतन्त्रता, राष्ट्रगत स्वतन्त्रता, परिवारगत स्वतन्त्रता और समाज तथा लोकगत अनेकविध व्यवहारिक स्वतन्त्रता कहलाती है। इन सबमें से राष्ट्र की स्वतन्त्रता प्रमुख है।[1] जिस समय शिव जीव पर अनुकम्पा करते हैं, तभी वह शास्त्र, गुरु सेवा में रुचि रखने लगता है,[2] जिससे मलों की क्षीणता के कारण उपलब्ध नैर्मल्य से क्रमशः आरोह को प्राप्त करता हुआ शिवता को प्राप्त हो जाता है।[3] इस शिवता की अनुभूति के कारण सारे संसार को अपना विलास समझते हुए परिपूर्ण स्वातन्त्र्य को प्राप्त हो जाता है।[4]

---

1. ''तत्रापि तु राष्ट्रगतं मुख्यं सर्वस्य भित्तिभूतत्वात्।
राष्ट्रे खलु परतन्त्रे स्वातन्त्र्यं नैव लभ्यते किमपि।।'' स्वा० द० 8/22
2. ''जीवे तु तदा देवः सदाशिवोऽनुग्रहं मनाक् कुरुते।
रज्यति ततः स शास्त्रे गुरुशुश्रूषाप्रवृत्तिमपि लभते।। तदेव 8/25
3. ''क्रमशश्चैवारोहन् क्षपयन् मौलं मलं शनैर्घोरम्।
नैर्मल्यं समवाप्तो झगिति शिवत्वं निजं स संवेत्ति।।'' तदेव 8/26
4. ''तत्संवेदनवशतः सकलं स्वविलासकल्पितं पश्यन्।
स्वातन्त्र्यं परिपूर्णं भुञ्जानो जयति देहयोगेऽपि।।'' तदेव 8/27

उपसंहार

उपसंहार

प्राचीन काल से ही कश्मीर न केवल प्राकृतिक सम्पदा की शोभा से आकर्षन का केन्द्र रहा है, अपितु अध्यात्म की अमृत धारा के सरस प्रवाह से जीज्ञासुजनों को आप्लावित करता रहा है। समय-समय पर ऋषि-मुनि, पीर-पैगम्बर और महापुरुषों ने अपने श्रीविग्रह से आश्रितजनों को अपनी साधना और ज्ञान के अनुभव से लाभान्वित किया है। इस सुन्दर धरा पर नाना प्रकार के मत-मतान्तर, सभ्यता-संस्कृति और विभिन्न दर्शन पल्लवित एवं पुष्पित हुए हैं। इन सब में से काश्मीर अद्वैत शैव दर्शन ने अपने उत्कृष्ट, परिपक्व और तर्कसंगत विचारधारा से विश्वभर में विद्वज्जनों को विशेष आकर्षित किया है।

शैवागमों अनुसार लोक-कल्याण के लिए भगवान् शिव ने कैलास पर्वत पर श्रीकण्ठनाथ के रूप में अवतरित होकर सिद्ध दुर्वासा ऋषि को परमार्थ ज्ञान प्रदान किया। पुनः उन्होंने अपने मानस पुत्र त्र्यम्बक, अमर्दक और श्रीनाथ को क्रमशः अद्वैत, द्वैत और द्वैताद्वैत ज्ञान प्रदान किया। त्र्यम्बक की परम्परा में यह दैवी ज्ञान सोमानन्द को प्राप्त हुआ, जिन्होंने अपनी अमूल्य कृतियों और उत्पलाचार्य जैसे विद्वान् शिष्य के माध्यम से आगे इस शैवी ज्ञान परम्परा को सम्यक् प्रस्थापित किया। इसी प्रकार उत्पलदेव, लक्ष्मणगुप्त, अभिनवगुप्त, क्षेमराज, वरदराज, योगराज, मधुयोगिन, जयरथ, भट्टआनन्द, शिवोपाध्याय, शितिकण्ठ, भास्करकण्ठ, महेश्वरानन्द आदि प्रमुख शैवाचार्यों ने इस दैविक ज्ञान को अपनी साधना और विद्वत्ता के बल पर अमूल्य कृतियों के माध्यम से प्रचारित व प्रसारित किया।

कालान्तर में लल्लेश्वरी देवी, रूपभवानी, लक्ष्मणजू, अमृतवाग्भव आदि महापुरुषों ने भी इसके प्रचार-प्रसार में

अमूल्य योगदान दिया। 20वीं शदी में दक्षिण कश्मीर के
कुलगाम जिले के महान् सपूत व उत्कट विद्वान् डॉ० बल्जिजनाथ
पण्डित ने अपनी स्वातन्त्र्यदर्पण जैसी रचनाओं और अपने गुरू
अमृतवाग्भव की कृतियों के उपर विद्वतापूर्ण भाष्यों के माध्यम से
इस शैवी ज्ञान परम्परा को जीवन्त बनाए रखा।

काश्मीर शैव दर्शन की अमूल्य निधिरूप स्वातन्त्र्यदर्पण
अपनी सरल भाषा, अर्थगौरव और सुबोधगम्यता के कारण अति
महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इसमें शैव दर्शन का सार तत्त्व
अतीव तार्किक और व्यवस्थित ढ़ंग से प्रस्तुत किया गया है,
जिसके अनुसार एकमात्र पारमार्थिक सत्ता परमशिव है जो शिव
और शक्ति, प्रकाश और विमर्श अथवा ज्ञान और क्रिया का
सामरस्य रूप है। जैसे अग्नि से उष्णत्व पृथक् नहीं किया जा
सकता वैसे ही शिव और शक्ति को कभी अलग नहीं किया जा
सकता। परमेश्वर की शक्तियां अनन्त हैं उनमें से मुख्य चित्,
आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया है। परमशिव सदा पाँच प्रकार
के कृत्य सृष्टि, स्थिति, संहार, निग्रह और अनुग्रह करता रहता
है। वह जगत् का निमित्त और उपादान कारण स्वयं ही है। वह
स्वतः सिद्ध है, देश-काल-आकार अथवा प्रमाण आदि से उसको
सिद्ध नहीं किया जा सकता। वह विश्वोत्तीर्ण और विश्वमय है

जगत् वेदान्त की तरह आकाशपुष्प की भाँति मिथ्या नहीं
माना गया है बल्कि शिव की शक्ति ही जगत् रूप को धारण
करती है। विश्व रचना के समय शिव अपनी शक्ति के माध्यम
से सप्त प्रमाता और छत्तीस तत्त्वों के रूप में आभासित होता
है। पराशक्ति ही पञ्च प्राणों का रूप धारण करती है और इस
प्रकार शिव ही जीव का रूप धारण करता है।

जीव के त्रिविध कलेशों का कारण शैव दर्शन अनुसार उसका बन्धन है, जो वास्तव में शिव स्वरूप होते हुए भी अपनी शक्तियों एवं स्वातन्त्र्य का अनभिज्ञान है। यह बन्धन शैव दर्शन अनुसार दो प्रकार का माना गया है – बौद्ध अज्ञान और पौरुष अज्ञान। जीव के बुद्धि के स्तर पर अनात्मविषयक अज्ञान अथवा सांसारिकता विषयक सीमित अज्ञान बौद्ध अज्ञान कहलाता है। आत्मविषयक होने वाला अज्ञान पौरुष अज्ञान कहलाता है। जबतक ये दोनों अज्ञान दूर या नष्ट नहीं होते तबतक जीव आवागमन के चक्र में फंसा रहता है और कष्ट पाता रहता है। बौद्ध अज्ञान बौद्ध ज्ञान से दूर होता है, जिसके लिए सम्यक् शास्त्रों का अध्ययन एवं गुरुजनों के उपदेश का अवलम्बन करना पड़ता है। पौरुष अज्ञान पौरुष ज्ञान से दूर या नष्ट होता है, जिसके लिए समावेश अथवा समाधि का आश्रय लिया जाता है।

वास्तव में शिव की असीमित इच्छा, ज्ञान और क्रिया शक्तियों का विश्वलीला अवभासण के समय संकोच ही त्रिविध क्रमशः आणव, मायीय और कार्म मलों का रूप धारण कर लेता है, जो शिवत्व में जीवत्व रूप से बन्धन का कारण बनता है। गुरुकृपा से कथित उपायों का अनुसरण करने से पुनः इच्छा–ज्ञान–क्रिया शक्तियां अपने असीमित रूप से अभिव्यक्त हो जाती हैं, जिससे जीवभाव नष्ट होकर शिवरूपता की प्राप्ति हो जाती है। अतएव शक्ति संकोच ही बन्धन अथवा जीवभाव है और शक्तियों का विकास ही शिवतारूपी मोक्ष है।

शैव–शास्त्रों में अन्य प्रकार से बन्धन का कारण पञ्च अथवा षट् कञ्चुक माने गए हैं। कला, विद्या, राग, काल और नियति यह पाँच कञ्चुक कहलाते हैं। जगत् लीला के समय

परमेश्वर की असीमित कर्तृत्व, ज्ञातृत्व, पूर्णत्व, नित्यत्व और व्यापकत्व शक्तियां क्रमशः संकुचित् होकर किञ्चित कर्तृत्वरूप कला, ज्ञातृत्वरूप विद्या, किञ्चित् आसक्तिरूप राग, भूतवर्तमान भविष्यत् रूप काल और निश्चित कार्यकारण भावरूप नियति का रूप धारण कर लेती हैं। माया शक्ति शिव के वास्तविक स्वरूप को ढक देती है और वह अनात्म में ही आत्माभिमान करने लगता है। इस प्रकार यह पाँचों आवरणरूप कञ्चुक एवं माया शिव के शुद्ध चैतन्य रूप में किञ्चित् मलिनता का आभास करा देती है, जिससे अपनी वास्तविक शिव स्वरूप की अनुभूति नहीं होती है।

जीवित रहते हुए समावेश अथवा शिव के अनुग्रह से अपने यथार्थ स्वरूप का ज्ञान रखने वाला साधक जीवन्मुक्त कहलाता है और शरीर छूट जाने पर विदेह मुक्त कहलाता है। जिस साधक को पाशावलोकन के दूर होने से आत्मव्याप्ति के पश्चात् शिवव्याप्ति का अनुभव होने लगता है, वह दशा भैरवात्मिका मुक्ति कहलाती है।

शिवत्व प्राप्ति के शैव शास्त्रों में अनेक उपाय बतलाए गए हैं, परन्तु स्वातन्त्र्यदर्पण में मुख्य रूप से चार उपायों का भक्ति की विशेष महिमा सहित उल्लेख किया गया है। सर्वप्रथम अनुपाय का उल्लेख है, जिसको आनन्दोपाय, अनुत्तरोपाय भी कहते हैं। इसमें साधक को कोई प्राणायाम, ध्यान, समाधि का अभ्यास नहीं करना पड़ता है, केवल शिव अथवा सिद्ध योगी के दर्शन, स्पर्शन अथवा उपदेश मात्र से शुद्ध संवित् स्वरूप में प्रवेश हो जाता है। जो साधक इस प्रकार के शक्तिपात के कृपापात्र नहीं बनते, परन्तु भाग्य उदय से शिव शक्तिपात का उन्मेष प्राप्त किए होते हैं, उनको भी कोई कठिन साधना अथवा

अभ्यासादि नहीं करना पड़ता है। केवल निर्विकल्पभाव से स्वात्मस्वरूप में निमग्न होना होता है। इससे भी शिवसमावेश की प्राप्ति हो जाती है जिसको शाम्भवोपाय या इच्छा उपाय कहते हैं।

जो साधक निर्विकल्प भाव की अनुभूति करने में समर्थ नहीं होते उनके लिए शाक्तोपाय का विधान किया गया है, जिसमें साधक को पराशक्ति का शुद्ध चित् से चिन्तन करना होता है। इस प्रकार का शुद्ध विकल्प संसार के कारण रूप अशुद्ध विकल्प को नष्ट कर देता है और साधक अपने शिव स्वरूप में समाविष्ट हो जाता है। जो साधक इस प्रकार के समावेश की सामर्थ्य नहीं रखते उनके लिए आणवोपाय का विधान है। जिसमें उच्चार, करण, ध्यान, वर्ण और स्थान प्रकल्पना में से किसी एक में चित्त का नियोग करना होता है जिससे आणव समावेश हो जाता है।

इन उपायों के अतिरिक्त भक्ति योग से भी ईश्वर प्राप्ति हो जाती है, जिसमें गुरु एवं स्वात्म महेश्वर में अद्वैत भाव से पूर्ण श्रद्धा एवं प्रेम का विनियोग करना होता है। इससे त्रिविध तापों का नाश और ईश्वर अनुग्रह से शीघ्र अभीष्ट फल की प्राप्ति होती है।

स्वातन्त्र्य सिद्धान्त का अन्य दर्शनों के सिद्धान्तों में उत्कृष्ट स्थान है। न्याय-वैशेषिकों के आरम्भवाद के सिद्धान्त, सांख्य योग के परिणामवाद, वेदान्तियों के विवर्तवाद, बौद्धों के बौद्धवाद के सिद्धान्त का युक्ति-युक्त खण्डन करके स्वातन्त्र्य दर्पण में स्वातन्त्र्य सिद्धान्त को सुस्थापित किया गया है, जिनके अनुसार परमेश्वर को विश्वरचना के लिए न तो परमाणु आदि की, न ही प्रकृति की, न ही माया की और न ही शून्य अथवा विज्ञानादि

किसी विशेष कार्य–कारणभाव की जरूरत पड़ती है, वह अपने स्वातन्त्र्य के प्रभाव से अपने अन्तः स्थित प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय अथवा जड़ चेतन अर्थ समूह को बाह्य अभिव्यक्त कर देता है। उसका यह रूप विश्वमय कहलाता है और पुनः अपने में एकीकृत करने से विश्वोत्तीर्ण रूप कहलाता है। वह कार्य–कारण रूप स्वयं ही स्वातन्त्र्य के प्रभाव से बनता है।

स्वातन्त्र्य की भौतिक एवं आध्यात्मिक दोनों स्तरों पर विशेष महत्ता है। जीव को स्वातन्त्र्य के ज्ञान से लौकिक व्यवहार करते हुए सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और पारिवारिक क्षेत्र में परमशुद्धता, पवित्रता, निष्पक्षता, परोपकारिता और सत्य–धर्म आदि पूर्वक व्यवहार करने का सामर्थ्य प्राप्त होता है। अर्थात् सांसारिक आचार–व्यवहार में सर्वथा शुचिता, शुद्धता, निःस्वार्थता और लोककल्याण का भाव रहता है। ऐसे जीव लोक में एक आदर्श प्रस्तुत करते हैं जो बिना किसी जाति, धर्म, वर्ण, भाषा, देश आदि के भेद बिना सबमें समान रूप से प्रेम का व्यवहार करते हैं। आध्यात्मिक स्तर पर जीव सभी में शिवरूपता का अनुभव करता है और इस प्रकार विश्वात्मभाव से सदा आनन्द मग्न और प्रसन्न चित् रहता है, जिससे वह शारीरिक, वाचिक और मानसिक स्वस्थता का अनुभव करता है। उसको किसी से राग–द्वेष अथवा वैरभाव नहीं रहता, इसलिए सभी जीव–जन्तु भी उसके प्रति वैरभाव त्याग देते हैं। वह अपने जीवन काल में ही अपने वास्तविक स्वरूप और शक्तियों का अनुभव करने से शिव स्वरूप हो जाता है।

ग्रन्थ सूची

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

क्रमांक	ग्रन्थ का नाम	
1.	अनुत्तरप्रकाशपञ्चशिका	अभिनवगुप्त, कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, श्रीनगर, प्रथम सं० 1918
2.	अभिनवभारती	अभिनवगुप्त, डॉ० नगेन्द्र हिन्दी विभाग दिल्ली विश्वविद्यालय, प्रथम सं० 1960
3.	आत्मविलास	अमृतवाग्भवाचार्य, एस० एन० मंगोत्रा, प्रिंटिंग प्रैस, जम्मू, द्वि० सं० 2039 वि०
4.	ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका	उत्पलदेव, कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, श्रीनगर, 1921
5.	ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी	अभिनवगुप्त, कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, श्रीनगर, प्रथम सं० 1918,21
6.	ईश्वरप्रत्यभिज्ञावृत्तिमिमर्शिनी	अभिनवगुप्त, कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, श्रीनगर, 1938, 41, 43
7.	ऐतरेय उपनिषद्	सम्पा० श्रीराम, संस्कृत संस्थान बरेली, 1975
8.	ऋग्वेद	सम्पा० पण्डित रामशर्मा आचार्य, संस्कृत संस्थान, बरेली, 1982
9.	काश्मीर शैव दर्शन	डॉ० बलजिन्नाथ पण्डित शास्त्री, श्री रणवीर केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, जम्मू, 1973
10.	गुरुनाथ परामर्श	मधुराज योगिन, कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, श्रीनगर, प्र० सं० 1918
11.	छान्दोग्योपनिषद्	निगम, गीता प्रैस, गोरखपुर, प्र० सं० 1949

12. तत्त्वसन्दोह — क्षेमराज, कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, श्रीनगर, प्र० सं० 1941–1947

13. तैत्तिरीय उपनिषद् — सम्पा० पण्डित श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, पारड़ी नगरम्, गुजराज, 1974

14. तन्त्रालोक — अभिनवगुप्त, कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, श्रीनगर, प्रथम सं० 1918–1938

15. तन्त्रालोक विवेक — जयरथ, कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, श्रीनगर, 1920

16. तन्त्रसार — अभिनवगुप्त, कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, श्रीनगर, 1918

17. ध्यानश्लोका — मधुराजयोगिन, कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, श्रीनगर, 1931

18. ध्वन्यालोक — आनन्दवर्धन, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, प्र० सं० 1961

19. परमार्थसार — अभिनवगुप्त, कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, श्रीनगर, 1931

20. परमार्थसारविवृत्ति — योगराज, कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, श्रीनगर, प्रथम सं० 1931

21. परमशिव स्तोत्र — अमृतभाग्भवाचार्य, श्रीपाठ, शैवदर्शन, शोध संस्थान, जम्मू, प्र० सं० 1991

22. पराप्रावेशिका — सम्पा० माखनलाल कुलिलू, ईश्वर आश्रम ट्रस्ट, श्रीनगर, प्र० सं० 1991

23. परात्रिंशिका — अभिनवगुप्त, कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, श्रीनगर, प्र० सं० 1963

24 परात्रिंशिकाविवरण — अभिनवगुप्त, कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, श्रीनगर, 1918

25. प्रत्यभिज्ञाहृदम् — राजानक क्षेमराज, कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, श्रीनगर, 1969

26. प्रत्यभिज्ञाहृदम् टीका — सम्पा० जयदेव सिंह, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, द्वितीय 1983

27. बोधपञ्चदशिका — अभिनवगुप्त, गीता प्रेस, गोरखपुर, 1949

28. भागवद्गीता — निगम, गीता प्रेस, गोरखपुर, 1995

29. भागवद्गीता सर्वतोभद्र टीका — राजानक रामकण्ठ, कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, श्रीनगर, 1918

30. भास्करी — भास्कर कण्ठ, कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, श्रीनगर, 1918

31. भास्करी भाष्य — के० सी० पाण्डेय, सरस्वती भवन टेक्स्ट्स, लखनऊ, प्र० सं० 1938

32. माहर्थमञ्जरी — माहेश्वरानन्द, कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, श्रीनगर, प्र० सं० 1918

33. महानयप्रकाश — शितिकण्ठ, कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, श्रीनगर, प्र० सं० 1941

34. मालिनीविजय — आगम, कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, श्रीनगर, प्र० सं० 1930

35. मालिनी विजय वार्त्तिक — अभिनवगुप्त, कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, श्रीनगर, प्र० सं8 1930

36. यजुर्वेद — सम्पा० श्रीराम शर्मा आचार्य, संस्कृत संस्थान, बरेली, 1985

37. योग भाष्य — डॉ० सम्पूर्णानन्द, हिन्दी समिती सूचना विभाग, उत्तरप्रदेश, लखनऊ, प्र० सं० 1810

38.	राजतरंगिनी	कल्हण, कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, श्रीनगर, प्र० सं० 1810
39.	ललवाक्	लल्लेश्वरी, जम्मू कश्मीर सरकार, सांस्कृतीक अकादमी, जम्मू, प्र० सं० 1966
40.	ललद्यद्वाक्	लल्लेश्वरी, जम्मू कश्मीर सरकार, सांस्कृतीक अकादमी, जम्मू, प्र० सं० 1966
41.	विज्ञान भैरव	शिवोपाध्याय, कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, श्रीनगर, 1918
42.	शारदातिलक टीका	टीका–डॉ० चमनलाल गौतम, संस्कृत संस्थान ख्बाजा, कुतुबमिनार, बरेली, द्वि० सं० 1977
43.	शिवायनम्	डॉ० विश्वमूर्तिशास्त्री एवं सम्पादक मण्डली डॉ० गिरिजा आदि, राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान, दिल्ली, प्र० सं० 2010
44.	शिवदृष्टि	सोमानन्द, आर्यभूषण प्रेस, पूनाशहर, 1934
45.	शिवदृष्टिवृत्ति	उत्पलदेव, चौखम्बा संस्कृत सीरिज आफिस, वाराणसी, प्र० सं० 1964
46.	शिवस्तोत्रावली	उत्पलदेव, चौखम्बा संस्कृत सीरिज आफिस, वाराणसी, प्र० सं० 1964
47.	शिवस्तोत्रावली टीका	क्षेमराज, कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, श्रीनगर, द्वि० सं० 1964
48.	शिवसूत्र	क्षेमराज, कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, श्रीनगर, 1911
49.	शिवसूत्रवार्त्तिक	भास्कर, कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, श्रीनगर, द्वितीय सं० 1951
50.	शिवसूत्रविमर्शिनी	क्षेमराज, कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, श्रीनगर, प्र० सं० 1911

51. स्तुतिकुसुमाञ्जली — आचार्य पुष्पदन्त, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, प्र० सं० 1969

52. स्पन्दकारिका — वसुगुप्त, कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, श्रीनगर, प्र० सं० 1941—1947

53. स्पन्दकारिका विवृत्ति — राजानक रामकण्ठ, कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, श्रीनगर, प्र० सं० 1953

54. स्पन्दनिर्णय — क्षेमराज, कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, श्रीनगर, प्र० सं० 1925

55. स्पन्दविवृति — श्राजानक श्रीरामकण्ठ, कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, श्रीनगर, प्र० सं० 1951

56. स्पन्दसन्दोह — राजानक क्षेमराज, कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, श्रीनगर, प्र० सं० 1917

57. स्वात्मपरामर्श — मधुराजयोगिन, कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, श्रीनगर, प्र० सं० 1917

58. स्वातन्त्र्यदर्पण — डॉ० बलजिन्नाथ पण्डित शास्त्री, श्रीरणवीर केन्द्रीय विद्यापीठ, जम्मू, प्र० सं० 1981

59. स्वातन्त्र्यदर्पण टीका — डॉ० बलजिन्नाथ पण्डित शास्त्री, श्रीरणवीर केन्द्रीय विद्यापीठ, जम्मू, प्र० सं० 1981

60. स्वच्छन्द तन्त्र — क्षेमराज, कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, श्रीनगर, प्र० सं8 1941—1947

61. सांख्य दर्शन — ईश्वरकृष्ण, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1959

62. सर्वदर्शन संग्रह — माध्वाचार्य, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1964

63. षट्त्रिंशतत्त्वसन्दोह — क्षेमराज, कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, श्रीनगर, 1918

अन्य सहायक ग्रन्थ सूची

क्रमांक	ग्रन्थ का नाम	
64.	काश्मीर शैवदर्शन	डॉ० बलजिन्नाथ पण्डित शास्त्री, श्रीरणवीर केन्द्रीय विद्यापीठ, जम्मू, प्र० सं० 1973
65.	कश्मीर शैवदर्शन और मूल सिद्धान्त	डॉ० कैलाशपति मिश्र, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, प्र० सं० 1982
66.	आनन्द भैरव	आगम, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, प्र० सं० 1918
67.	भारतीय दर्शन	कुंवरलाल जोशी, इतिहास विद्या प्रकाशन, दिल्ली, वि० सं० 1980
68.	भारतीय दर्शन	उमेश मिश्र,
69.	भारतीय दर्शन	रामकृष्ण आचार्य, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा, प्र० सं० 1966
70.	भारतीय दर्शन	बलदेव उपाध्याय, इतिहास विद्या प्रकाशन, दिल्ली, तृ० सं० 1976
71.	भारतीय दर्शन	जे० एन० सिन्हा, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा, प्र० सं० 1978
72.	उत्पलदेव का काश्मीर शैवदर्शन को योगदान	डॉ० जागीर सिंह, अप्रकाशित, 1985

English Books

1.	Abhinavagupta an historical and philosophical study	Prof. (Dr.) Kanti Chander Pandey, Chow-Khamba Sanskrit Series office, 1925
2.	Cultural heritage of Kashmir	Suresh Chander Banerji, Sanskrit Pustak Bhandar, 38, Bkdhansarani, Culcutta.
3.	Contribution of Kashmir to Sanskrit Literature	Dr. K.S. NagaraJan, V.B. Soobhiah and sons Nagarthpet, Banglore, 1970
4.	History of Kashmir Saivism	Dr. B.N. Pandit, Uptal publications Motiyar, Rainawari Srinagar, Kashmir, 1989
5.	Pratyabhiyna	Dr. R.K. Kaw, Sharda Peeth, Research Centre] 1975
6.	Siva-sutras	Ed. Jaideva Singh, Motilal Banarsi Dasa, Delhi, 1979